सरकार के अंग

प्रथम संस्करण

अक्टूबर 1989
कार्तिक 1911

PD 15T—ML

प्रकाशन सहयोग

सी.एन. राव, **अध्यक्ष**, प्रकाशन विभाग

प्रभाकर द्विवेदी, **मुख्य सम्पादक**
एम. लाल, **सम्पादन सहायक**

यू. प्रभाकर राव, **मुख्य उत्पादन अधिकारी**
सुरेन्द्रकांत शर्मा, **उत्पादन अधिकारी**
टी. टी. श्रीनिवासन, **सहायक उत्पादन अधिकारी**
राजेन्द्र चौहान, **उत्पादन सहायक**

आवरण : शशि अरोड़ा
सज्जा : चंद्रप्रकाश टंडन

मूल्य : रु. 7.50

प्रकाशन विभाग में, सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित एवं क्विक प्रिंट्स, सी-111/1, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फेज I, नई दिल्ली 110 028 द्वारा फोटो कम्पोज़ होकर गोवर्सन्स पब्लिशर्स प्रा. लि., ए-143, मायापुरी इंडस्ट्रियल एरिया फेज़-II नई दिल्ली 110 064 में मुद्रित

प्राक्कथन

दस वर्षीय विद्यालयी शिक्षा की अवधि में विद्यार्थियों को नागरिक व राजनीतिक संस्थाओं का तथा भारत और विश्व की समकालीन समस्याओं का अध्ययन करने का अवसर मिलता है। सामान्य शिक्षा के उद्देश्यों के अनुरूप इन दस वर्षों की अवधि में विद्यार्थियों में नागरिक व राजनीतिक प्रक्रियाओं की सही समझ पैदा करने के लिए बल दिया जाता है। सामान्य शिक्षा के इन तत्वों को बनाए रखते हुए + 2 स्तर पर वैषयिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। + 2 स्तर का एक उद्देश्य विद्यार्थियों को सामाजिक विज्ञान के भिन्न-भिन्न विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तैयार करना है। चूँकि इस स्तर पर यह विषय अध्ययन के लिए ऐच्छिक विषय है इसलिए यह उचित ही है कि नागरिक शास्त्र के स्थान पर राजनीति विज्ञान का अध्ययन किया जाए।

हमारा यह प्रयास रहा है कि पाठ्यक्रम व पाठ्य सामग्री को अधिक से अधिक अर्थपूर्ण और व्यावहारिक बनाया जाए। नये पाठ्यक्रम में अध्ययन को अधिक अर्थपूर्ण बनाने के लिए राजनीति विज्ञान के सैद्धांतिक व व्यावहारिक पक्षों को समन्वित करने का प्रयास किया गया है।

'सरकार के अंग' + 2 स्तर पर राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक माला की दूसरी कड़ी है। यह पुस्तक नए पाठ्यक्रम पर आधारित है। इस पुस्तक में सरकार के विभिन्न अंगों जैसे व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और नौकरशाही के सैद्धांतिक स्वरूप की चर्चा भारत के संदर्भ में की गई है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति व कार्यक्रम योजना में दिए गए कुछ केन्द्रिक शिक्षाक्रम के क्षेत्रों का समावेश इस पुस्तक में उपयुक्त रूप से किया गया है। पुस्तक को और अधिक व्यावहारिक बनाने के लिए पाठ्य सामग्री के साथ कुछ प्रयोगात्मक क्रियाओं का सुझाव दिया गया है। साथ ही साथ प्रत्येक अध्याय में चौखटे के भीतर कुछ प्रश्न दिए गए हैं अथवा अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए सुझाव दिए गए हैं। इन प्रश्नों का उद्देश्य पाठ्यसामग्री को बच्चों के व्यावहारिक जीवन के अनुभव और परिस्थितियों से जोड़ना है। इसके अलावा, पुस्तक में शिक्षक और विद्यार्थियों के लिए कुछ अभ्यास के प्रश्न दिए गए हैं। पुस्तक की उपयोगिता को और अधिक बढ़ाने के लिए कठिन शब्दों की सूची दी गई है।

अंत में कई वर्षों से हमने यह आवश्यकता महसूस की है कि पुस्तक की उपयोगिता के संदर्भ में अध्यापक और छात्रों से व्यवस्थित जानकारी प्राप्त हो जाए। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पुस्तक का मूल्यांकन करने के लिए अंतर्निर्मित प्रणाली विकसित की गई है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए पुस्तक के अंत में अध्यापक और छात्र दोनों ही के लिए प्रश्नावली दी गई

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं । जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा । क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा ? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा ? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है ?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है ।

मो. क. गांधी

विषय सूची

अध्याय 1

सरकार और उसके अंग : सैद्धांतिक चर्चा

प्रत्येक आधुनिक राज्य में सरकार के तीन अंग होते हैं : *विधायिका, कार्यपालिका* तथा *न्यायपालिका।* प्रत्येक संगठित समुदाय या समाज में कुछ कानून अवश्य होते हैं। सरकार के कानून बनाने वाले अंग को विधायिका कहते हैं। आधुनिक समाज की बढ़ती जटिलता के कारण विधायिका पर, सामाजिक हित के लिए कानून बनाने के कार्य का बोझ बढ़ गया है। सरकार का दूसरा अंग कार्यपालिका, कानूनों को कार्यान्वित करती है। यह सरकार का मुख्य अंग है। कानूनों को ठीक प्रकार से लागू किया जाना जरूरी है, अन्यथा आम लोगों के लिए उनका कोई महत्व नहीं रहता। न्यायपालिका का कार्य, अलग-अलग मामलों में मौजूदा कानूनों के आधार पर निर्णय देना है। न्यायपालिका समाज में न्याय की अभिरक्षक है।

आदिकालीन और मध्यकालीन राज्यों में इन कार्यों के बीच कोई भेद नहीं रखा गया था। राजा सर्वोच्च विधि निर्माता, कार्य पालिका का प्रधान तथा न्याय का स्रोत होता था। ज्यों-ज्यों समाज जटिलतर बनता गया, कार्यों के विशिष्टीकरण तथा विभाजन की आवश्यकता उत्पन्न हुई। राजा विभिन्न निकायों को अपने अधिकार सौंपने लगा। अतः सत्ता का त्रिविभाजन अस्तित्व में आया। यह राज्य के बढ़ते कार्यों से निबटने का एक सहज साधन है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सरकार के तीन कार्यों के बीच भेद पर ध्यान देने वाला पहला विचारक अरस्तू था। उसने इन्हें विचारात्मक, दंडाधिकारीय और न्यायिक कार्य कहा। सिसरो और पोलीबिअस जैसे रोमन विचारकों ने रोम के गणतंत्रीय संविधान की सराहना की क्योंकि उन्होंने उसमें *सीनेट* (विधान-मंडल), *कॉन्सल्स* (कार्य पालिका) तथा *ट्राइब्यून* (न्यायपालिका) के बीच संतुलन पाया। परंतु व्यवहार में सीनेट सर्वोच्च प्राधिकरण थी जिसके सामने अंततः सभी पदाधिकारी झुक जाते थे। सोलहवीं शताब्दी का फ्रांसीसी विचारक, बोदां शक्तिपार्थक्य की माँग करने वाला पहला आधुनिक लेखक था। उसने तर्क दिया कि अगर राजा कानून-निर्माता तथा

न्यायाधीश दोनों होगा, तो निर्दयी राजा क्रूर और निर्दयतापूर्ण दंड देगा। ब्रिटेन के इतिहास में, कॉमनवैल्थ अवधि (1649-1660) के दौरान, क्रॉमवेल ने कार्यपालक तथा विधायी कार्यों को पृथक किया लेकिन कार्यपालिका के प्रधान के रूप में उसने न्यायाधीशों को मनमाने ढंग से पदच्युत किया। अंततोगत्वा मांटेस्क्यू के लेखन में शक्ति-पार्थक्य के सिद्धांत का आविर्भाव हुआ।
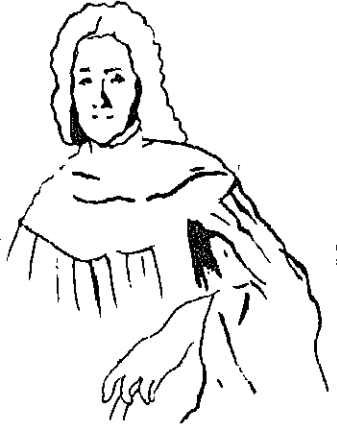
मांटेसक्यू (1698-1755 ईसवी)
उदारवादी राजनीतिक विचारक। शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत के प्रवर्तक। अठारहवीं शताब्दी के एक प्रमुख फ्रांसीसी दार्शनिक। प्रसिद्ध पुस्तकें : "De la Monarchie Universelle en Europe, L'Espirit des lois".

यूरोप के निरंकुश राजा स्वयं विधायी, कार्यपालक, तथा न्यायिक विभागों पर नियंत्रण रखते थे। वे मंत्रियों को अपने प्रति ही उत्तरदायी मानते थे, स्वेच्छा से कानून बनाकर लागू करते थे, न्यायाधीशों की नियुक्ति करते और उनकी सेवाएँ भी समाप्त करते थे। इंग्लैंड में, सांविधानिक संघर्ष की लंबी प्रक्रिया के बाद संसद ने कानून बनाने का प्राधिकार प्राप्त कर लिया और न्यायाधीशों को तब तक पद पर बने रहने का अधिकार मिल गया जब तक वे सद्व्यवहार करते हों। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में यूरोप के अन्य किसी देश की अपेक्षा इंग्लैंड में प्रजा को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। इस प्रकार मांटेस्क्यू को विश्वास हो गया कि सत्ता के केंद्रीकरण का अर्थ है निरंकुश शासन। नियंत्रण तथा संतुलन द्वारा सुरक्षित होकर शक्तियों अथवा अधिकारों के विवेकपूर्ण वितरण वाली व्यवस्था के अंतर्गत ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता संभव है। मांटेस्क्यू ने इस सिद्धांत को सन् 1748 में प्रकाशित अपने ग्रंथ **एस्प्रिदुल्वा** में प्रतिपादित किया।

शक्ति-पार्थक्य का सिद्धांत

शक्ति-पार्थक्य के सिद्धांत का मतलब है कि विधायी, कार्यपालक तथा न्यायिक कार्य व्यक्तियों के पृथक निकायों द्वारा किए जाने चाहिए। प्रत्येक निकाय या विभाग अपने कार्य-क्षेत्र तक सीमित रहना चाहिए और प्रत्येक निकाय को अन्य दो में से किसी पर नियंत्रण की शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए। मांटेस्क्यू के सिद्धांत को संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपना कर उसे यथा संभव व्यावहारिक रूप दिया। इस सिद्धांत की जन्मभूमि फ्रांस,ने भी इसे मान्यता प्रदान की।

पृथक-पृथक हाथों में तीन शक्तियों के रहने के व्यापक अर्थ में, सभी आधुनिक सांविधानिक राज्यों में शक्ति-पार्थक्य की भावना के अनुरूप काम करने की प्रवृत्ति होती है। यद्यपि इसी अर्थ में शक्ति-पार्थक्य का सिद्धांत सत्य है, तो भी, आज की दुनिया के किसी भी देश की सरकार में हमें शक्तियों का पूर्ण पार्थक्य नहीं मिलता। सरकार के तीनों अंगों को पूरी तरह से अलग करना न तो वांछनीय है और न ही पूर्णतया व्यावहारिक यदि सरकार का प्रत्येक अंग अपने कार्यकलापों के क्षेत्र में बिल्कुल स्वतंत्र होगा, तो विभिन्न अंगों में बाधाएँ आ सकती हैं तथा गतिरोध उत्पन्न हो सकते हैं।

अतः शक्तिपार्थक्य का सिद्धांत पूरी तरह से अमल में नहीं लाया जा सकता। **विधायिका** किसी कानून की रूपरेखा निर्धारित कर देती है। **कार्यपालिका** उस कानून को लागू करते समय इस के संबंध में विस्तृत ब्यौरा तैयार करती है। प्रत्येक देश में विधायी निकाय कार्यपालिका को किसी कानून के अंतर्गत नियमावली बनाने के लिए अधिकाधिक अधिकार देता है। ये नियम उतने ही बाध्यकारी हैं जितने कि विधायिका द्वारा पारित कानून। आपात स्थिति में, कार्यपालिका को अध्यादेश जारी करने का अधिकार भी मिला होता है। इसी प्रकार, लिखित कानून की व्याख्या करने और अलिखित कानून को स्पष्ट करने के अपने प्राधिकार द्वारा न्यायपालिका विधि-निर्माण या कानून बनाने में हिस्सा लेती है। इस तरह कानून बनाने में सरकार के तीनों अंग सहभागी होते हैं। **न्यायपालिका कार्यपालिका के भी कुछ कार्य करती है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में निचली अदालतों और ब्रिटेन में "जस्टिस आफ पीस"** को शांति बनाए रखने का काम सौंपा गया है। **इंग्लैंड में विधायिका का उच्च सदन, 'हाउस ऑफ लार्ड्स'** अपील का उच्चतम न्यायालय भी है।

ब्रिटिश शासनप्रणाली में शक्ति-पार्थक्य को किसी हद तक स्थान दिया गया है। संसद एक निकाय के रूप में विधायिका के कार्य निष्पादित करती है और कार्यपालिका से भिन्न है। ब्रिटिश संसद (पार्लियामेंट) विशुद्ध रूप में विधायी निकाय है। वह कार्यपालिका के साथ प्रशासनिक कार्यों में भाग नहीं लेती। कार्यपालिका सरकार का पृथक अंग है। सन् 1701 के **ऐक्ट ऑफ सेटिलमेंट**' ने ब्रिटेन में न्यायपालिका को स्तंत्रता प्रदान की। ब्रिटेन में न्यायाधीश कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त होते हैं। कार्यपालिका उन्हें सेवा से नहीं निकाल सकती फिर भी, संसदीय शासन प्रणाली का मूल सिद्धांत शक्तियों का केंद्रीकरण है, न कि पार्थक्य। मंत्रियों की सदस्यता, मंत्रिमंडल का नेतृत्व, विधायी पहल तथा संसद के प्रति उनका सामूहिक उत्तरदायित्व, ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली के प्रमुख लक्षण हैं। हाउस आफ लार्ड्स अपील का सर्वोच्च न्यायालय है। इस प्रकार ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था में कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के क्षेत्राधिकारों के बीच सुस्पष्ट पृथक्करण नहीं है। संगठित दल प्रणाली और जनमत के दबाव के माध्यम से स्वतंत्रता की रक्षा करने की कोशिश की जाती है। शक्तिपार्थक्य तथा नियंत्रण और संतुलन की विस्तृत प्रणाली के माध्यम से यह
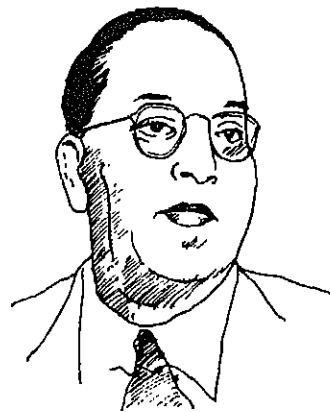
डा. भीमराव अंबेडकर (1891-1956 ईसवी) विख्यात विधिवेत्ता एवं शिक्षाविद। अनुसूचित जातियों के नेता और शोषित वर्गों के लिए पूर्ण निष्ठा से संघर्षरत। संविधान सभा द्वारा गठित प्रारूप समिति के सभापति। प्रसिद्ध पुस्तकें : "कास्टस इन इंडिया; देयर मैकेनिज्म, जनेसिस एंड डेवलपमेंट," (Castes in India: their mechanism, Genesis and Development) "हू वर द शूद्राज" (Who were the Shudras), "द अनटचेबुल्स" (The Untouchables), "द बुद्धा एंड हिज़ धम्मा" (The Buddha and his Dhamma)।

उद्देश्य पूरा नहीं किया जाता। इस तरह ब्रिटेन ने शक्तिपार्थक्य के सिद्धांत को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया है। सरकार की निरंकुशता के विरुद्ध वह अन्य संस्थागत बचावों पर निर्भर रहता है। इसके विपरीत, अमरीका के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में अत्यधिक जटिलता थी। इस कारण अमरीकी संविधान निर्माता स्वतंत्रता की रक्षा के उद्देश्य से शक्तिपार्थक्य की सांविधानिक युक्ति पर निर्भर रहने के लिए प्रेरित हुए।

अमरीकी संविधान में शक्तिपार्थक्य के सिद्धांत का उल्लेख नहीं हुआ है लेकिन वह उसमें अंतर्निहित है। संविधान के पहले तीन अनुच्छेद शक्तिपार्थक्य के मूल सिद्धांतों को मूर्तरूप देते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने इस सिद्धांत को देश के सांविधानिक कानून के भाग के रूप में मान्यता दी है।

कार्यपालिका तथा विधायिका के अथवा कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के पारस्परिक संबंध स्पष्ट रूप से शक्तिपार्थक्य के संकेत देते हैं। अमरीकी राष्ट्रपति **कांग्रेस** (विधान-मंडल) का सदस्य नहीं होता और वह कानून बनाने में पहल नहीं कर सकता। राष्ट्रपति निश्चित अवधि की समाप्ति से पहले कांग्रेस को भंग नहीं कर सकता, और न ही कांग्रेस राष्ट्रपति को पद मुक्त कर सकती है। न्यायाधीशों की सेवा की अवधि तथा अन्य सेवा शर्तें कार्यपालिका द्वारा विनियमित नहीं की जा सकती। इनके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

अमरीकी संविधान के निर्माता यह अच्छी तरह जानते थे कि शक्ति-पार्थक्य के सिद्धांत को पूरी तरह से अमल में लाना असंभव है। तदनुसार, राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित कानून या कार्यवाही पर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करके कांग्रेस को रोक सकता है। कांग्रेस के नाम संदेश भेजने के अधिकार सहित यह निषेधाधिकार राष्ट्रपति को विधिनिर्माण की प्रक्रिया में भाग लेने के लिए समर्थ बनाता है। सीनेट राष्ट्रपति द्वारा की गई संधियों या नियुक्तियों की पुष्टि के अधिकार द्वारा कार्यपालिका के कार्यकलापों को विनियमित कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय अपने न्यायिक पुनरीक्षण के अधिकार के माध्यम से विधि निर्माण के कार्य को संशोधित या प्रभावित करता है।

भारतीय संदर्भ

भारत के संविधान निर्माताओं ने विधायिका तथा कार्यपालिका के संबंध में शक्ति-पार्थक्य के सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया। राष्ट्रपति और मंत्रि-परिषद् को लेकर बनी केंद्र सरकार की कार्यपालिका संसद का भाग है। संसद के दोनों सदन राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं। राष्ट्रपति अपने संदेशों और निलंबन विशेषाधिकार के माध्यम से विधिनिर्माण को प्रभावित कर सकता है। साथ ही, उसे अध्यादेश जारी करने का अधिकार भी प्राप्त है। अध्यादेश जारी करना थोड़े समय के लिए कानून बनाना है। संसद के अंतर्गत समस्त विधायी क्षेत्रों के किसी भी विषय पर अध्यादेश जारी किया जा सकता है। भारत में मंत्रिपरिषद् संसद का अभिन्न अंग

भारतीय संविधान के नीति निदेशक सिद्धांतों में से एक में कहा गया है कि न्यायिक शक्तियों को कार्यपालिका शक्तियों से पृथक किया जाना चाहिए। आप के राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में इस सिद्धांत पर किस सीमा तक अमल होता है?

है। मंत्रिपरिषद् के सदस्य संसद के सदस्य होते हैं और सामूहिक रूप में वे संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मंत्रिपरिषद् को विधायी नेतृत्व और पहल का अधिकार प्राप्त है।

न्यायपालिका के संगठन में भारत के संविधान निर्माताओं ने शक्तिपार्थक्य के सिद्धांत को अपनाया। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त हैं और संविधान में ही उनके वेतनमान तथा सेवा शर्तें नियत कर दी गई हैं। वे सद्व्यवहार के दौरान अपने पदों पर बने रहते हैं। संसद के प्रत्येक सदन द्वारा पारित प्रस्ताव के आधार पर ही राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश की सेवाएँ समाप्त करता है।

अभ्यास

1. सरकार के तीन अंग कौन से हैं और वे क्या कार्य करते हैं?
2. आधुनिक काल में शक्तिपार्थक्य के सिद्धांत का प्रतिपादन किस विचारक ने किया? किस देश ने अपने सांविधानिक ढाँचे में सिद्धांत के रूप में इसको अपनाया?
3. शक्तिपार्थक्य सिद्धांत के क्या उद्देश्य हैं? इसकी उपयोगिता की चर्चा कीजिए।
4. भारतीय संविधान के निर्माताओं ने शक्तिपार्थक्य के सिद्धांत को कहां तक अपनाया है?

अध्याय 2

विधायिका की सामान्य विशेषताएँ

विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में विधायिका के नामों के बारे में एकरूपता नहीं है। इसको अनेक नामों से जाना जाता है, जैसे संयुक्त राज्य **अमेरिका** में "**कांग्रेस**", जापान में "**डायट**", ब्रिटेन में "**पार्लियामेण्ट**" तथा भारत में "**संसद**"। विधायिका के प्राय: दो रूप हैं। **एक सदनीय** तथा **द्विसदनीय**। द्विसदनीय विधायिका में निम्न सदन के लिए लोकप्रिय नाम **सभा** है।

कार्य

विधायिका के कार्य उस सिद्धांत पर निर्भर होते हैं जिस पर उसका गठन होता है। मोटे तौर पर विधायी नीति के निर्माण में तीन प्रणालियों का प्रचलन है। स्वेच्छाचारी शासक या राजा या नौकरशाही सरकार विधायिका को परामर्शी निकाय के रूप में रख सकती है। उदाहरण के लिए 19वीं शताब्दी में भारत में विधान परिषदें पूर्णतया कार्यपालिका के अधीन थीं दूसरी ओर, संसदीय सरकार में कार्यपालिका विधायिका के अधीन रहती है। सरकार के कार्यकलापों के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में विधायिका की इच्छा सर्वोपरि होती है। ऐसी व्यवस्था ब्रिटेन और फ्रांस में है। कुछ शासन प्रणालियों में कार्यपालिका और विधायिका के बीच शक्ति का संतुलन भी संभव हो सकता है। ऐसी सरकारों में कोई एक प्राधिकार इस प्रकार दिया जाता है कि उससे दूसरे अंग के प्राधिकार पर नियंत्रण बना रहे। संयुक्त राज्य अमरीका में यही स्थिति है। संयुक्त राज्य अमरीका की विधायिका (कांग्रेस) कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण नहीं रख सकती और न ही वह अकेले संविधान में संशोधन कर सकती है।

विधायिका का मुख्य कार्य देश के लिए कानून बनाना, अनुपयुक्त कानूनों को निरस्त करना और उन्हें समय की आवश्यकतानुसार बदल कर सुधारना है। यही नहीं, विधायी निकाय कर लगाने के अधिकार का भी प्रयोग करते हैं। वे धन जुटाने के तरीके, जुटाए जाने वाले धन की राशि तथा उसे खर्च करने के ढंग के संबंध में निर्णय करते हैं। वित्त और कुछेक प्रकरणों में विधायिका वित्तीय नियंत्रण द्वारा तथा आवश्यकतानुसार मंत्रियों पर नियंत्रण के माध्यम से कार्यपालक अंग की घरेलू और विदेशी नीतियों पर भी नियंत्रण रखती हैं। संसदीय सरकारों में विधायिका प्रश्नों, स्थगन प्रस्तावों, वित्तीय कटौतियों और अविश्वास

प्रस्तावों आदि के माध्यम से कार्यपालिका को नियंत्रित करती है। चुनावों में हार-जीत का फैसला करवाने, अपनी कार्यविधि तय करने और महाभियोग-न्यायालय के रूप में काम करने के अपने अधिकारों द्वारा विधायिकाएँ कुछ न्यायिक कार्यों को भी निष्पादित करती हैं।

इस प्रकार विधायिका के सबसे महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित हैं :

1. विधि-निर्माण क्षेत्र, जैसे (क) कानून बनाना, (ख) संविधान में संशोधन करना, (ग) अध्यादेशों का अनुमोदन करना इत्यादि।
2. वित्तीय क्षेत्र, जैसे राष्ट्र के आय-व्यय का अभिरक्षण,
3. कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के प्रधानों के निर्वाचन/चयन में भाग लेना,
4. कार्यपालिका के कार्यकलापों की देख-रेख और नियंत्रण (यद्यपि विधायिका कार्य-पालिका के कार्यों में सीधे भाग नहीं लेती),
5. न्यायिक कार्यों का निष्पादन,
6. प्रतिनिधित्व संबंधी कर्त्तव्यभार-अर्थात् नीचे से उठने वाली मांगों को दिशा देना और ऊपर के स्तरों से सूचना तथा ब्यौरा उपलब्ध कराना, तथा
7. अन्य विविध कार्य।

आधुनिक राज्यों में सरकार के कार्य अत्यन्त जटिल और विस्तृत हो गए हैं अर्थात् सरकार के काम बहुत बढ़ गए हैं। परिणामस्वरूप विधायिका का कार्य क्षेत्र भी व्यापक हो गया है। परन्तु विधायिका के लिए बढ़ते काम के दबाव को झेलना कठिन हो गया है। अतः ब्रिटेन जैसे उन्नत देशों में भी विधायिका अपनी शक्ति या अधिकार को प्रशासनिक निकायों को सौंप देती है। फिर भी, विधायिका की जन प्रतिनिधित्व की भूमिका इतनी अधिक महत्वपूर्ण है कि इससे सरकार की नीति को प्राधिकृत अथवा अनुमोदित होने की वैधता प्राप्त हो जाती है।

प्रत्यक्ष विधि-निर्माण की पद्धतियाँ

जनता द्वारा प्रत्यक्ष विधिनिर्माण संबंधी आंदोलन के दो आधार हैं : पहला **सैद्धांतिक** और दूसरा **व्यावहारिक**। सैद्धांतिक तर्क यह है कि संपूर्ण सत्ता जनता में है, इसलिए कानून बनाने में जनता को ही सीधे भाग लेना चाहिए। व्यावहारिक तर्क यह है कि विभिन्न क्षेत्रों में जनता विधायिका से निराश हो चुकी है, इसलिए जनता को उसके कामकाज को अपने हाथों में लेकर बिना किसी हस्तक्षेप के स्वयं कानून बनाने चाहिए। इसके अतिरिक्त अधिकांश राज्यों में दलीय अनुशासन इतना कठोर हो गया है कि व्यक्ति की प्रतिनिधित्व करने की क्षमता बिल्कुल खत्म हो गई है। विधिनिर्माण में जनता के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के लिए तीन लोकतंत्रीय पद्धतियाँ हैं। ये हैं : **परिपृच्छा**, **पहल** और **प्रत्याह्वान** (वापस बुलाना)। स्विट्जरलैंड और संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यों में मतदाताओं को परिपृच्छा के माध्यम से यह अधिकार प्राप्त है जिसके माध्यम से वे विधायिका में प्रस्तुत विधेयक की समीक्षा, उसके कानून बनाने से पहले कर सकते हैं। स्विट्जरलैंड में "पहल" का अधिकार भी लोकप्रिय है और अपने प्रतिनिधियों द्वारा पारित कानून के लिए सुझाव प्रस्तुत करने का जनता को अधिकार प्राप्त है। संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यों में प्रचलित प्रत्याह्वान द्वारा जनता को यह अधिकार दिया गया है कि वह असंतोषजनक कार्य करने वाले प्रतिनिधि को उसके पद की अवधि के बीतने से पहले वापस बुला सके। इन तीन के अलावा **जनमत-संग्रह** और **नगर सभा** के उपाय भी

प्रचलित हैं। जनमत-संग्रह का शाब्दिक अर्थ है, किसी प्रश्न पर जनता का मत जानना। इसके द्वारा जनमत जानने के लिए किसी सांविधानिक मुद्दे को जनता के सामने रखा जाता है और उस पर जनता की इच्छा मालूम की जाती है। नगर सभा संयुक्त राज्य अमरीका के न्यूइंग्लैंड राज्य में प्रचलित है और इस उपाय द्वारा स्थानीय समुदाय से संबंधित मुद्दों पर विचार-विमर्श करके जनता द्वारा ही निर्णय लिया जाता है।

सैद्धांतिक रूप से प्रत्यक्ष विधिनिर्माण के कुछ गुण हैं। इस विधि में आम नागरिकों को महसूस होता है कि प्रभुता या सर्वोच्च प्राधिकार वास्तव में उन्हीं के पास हैं। उदाहरण के लिए, परिपृच्छा से यह सुनिश्चित हो जाता है कि अधिकांश मतदाताओं के विरोध करने पर कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता। यदि विधायिका कुछ अच्छे कानून बनाने की ज़रूरत के प्रति उदासीनता दिखाती है, तो जनता का एक वर्ग पहल के अधिकार द्वारा कानून बनवा सकता है। इन दोनों ही उपायों में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि मतदाता व्यक्ति विशेष पर ध्यान न देकर प्रस्तावित कानूनों पर शांत मन से विचार कर सकता है।

आम चुनावों में मतदाता उम्मीदवार के व्यक्तित्व और उसकी नीतियों और कार्यक्रमों के बीच कभी-कभी अंतर करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। यह भी देखा गया है कि परिपृच्छा में मतदान करने वाले व्यक्तियों की संख्या प्रायः कम होती है। इस प्रकार मतदान में भाग न लेने वाले जन समूह के आकार को देखते हुए यह जानना कठिन हो जाता है कि क्या उठाए गए मुद्दे पर कोई जनमत है भी। साथ ही, सामने लाए गए जटिल सुझावों या प्रस्तावित कानूनों पर मतदान करना कई लोगों के लिए वास्तव में कठिन होता है। यहाँ तक कि अच्छी जानकारी और योग्यता वाले नागरिक भी बैंकिंग, मुद्रा, सीमा-शुल्क, किसी उद्योग के राष्ट्रीयकरण आदि जैसे उलझे विषयों पर प्रस्तावित कानूनों में निहित अर्थ बहुत कम समझ पाते हैं। साथ ही, अधिकांश मतदाता विधिनिर्माण के सिद्धांत विशेष पर ही सहमति प्रकट कर पाते हैं, अर्थात् वे किसी सिद्धांत के व्यावहारिक पक्ष को नहीं समझ पाते है, इसके लिए तो विशेष जानकारी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, सामान्य मतदाता सामाजिक महत्व के अधिकांश प्रश्नों पर राय कायम करने की न इच्छा रखता है और न पर्याप्त साहस।

प्रत्यक्ष विधिनिर्माता की वकालत करने वालों का कहना है कि परिपृच्छा तथा पहल विधायिका के दोषों को सुधारते हैं ताकि वह भ्रष्ट आचरण न कर सके तथा जनादेश की अवज्ञा न करे। मतदाताओं पर भी आम तौर पर अखबारों और जनता के बीच दिए गए भाषणों का प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इन अखबारों और भाषणों का दृष्टिकोण विवेकपूर्ण हो। सच बात तो यह है कि मतदाताओं के नैतिक तथा बौद्धिक स्तर को ऊपर उठाकर ही विधायिका के दोषों को दूर किया जा सकता है। केवल प्रत्यक्ष विधिनिर्माण द्वारा यह लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। कुछ वर्गों अथवा समूहों के प्रयास से विधायिका के सदस्यों की तुलना में अधिकांश मतदाताओं को गुमराह किया जा सकता है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष विधिनिर्माण के विरोधियों का तर्क है कि अगर प्रस्तावित कानून को स्वीकृत या अस्वीकृत करने का अंतिम अधिकार आम लोगों को दे दिया जाए तो विधायिका में दायित्व की भावना घट जाएगी। यदि राज्य छोटा हो और मतदाता प्रबुद्ध हो, तो परिपृच्छा और पहल बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। भारत एक बड़ा देश है और यहाँ आम जनता में निरक्षरता तथा अज्ञान फैला है, इसलिए यहाँ परिपृच्छा और

पहल की शुरूआत करना कठिन है। साथ ही, भारत में निर्वाचक मण्डल का आकार विशाल है। इस कारण वित्तीय तथा प्रशासनिक दृष्टि से इन पद्धतियों या उपायों का प्रयोग यदि असंभव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है।

द्विसदनीय तथा एक सदनीय प्रणालियाँ

अधिकांश देशों में विधायिका के दो सदन होते हैं। इस व्यवस्था को **द्विसदनीय प्रणाली** कहते हैं। यह प्रणाली भारत, ब्रिटेन, सोवियत संघ, अमरीका आदि देशों में प्रचलित है। इसके विपरीत चीन, नेपाल और चेकोस्लोवाकिया आदि कुछ ऐसे देश हैं, जहाँ विधायिका में एक सदन ही है। ऐसी व्यवस्था को **एक सदनीय प्रणाली** कहा जाता है।

मध्यकालीन विधायिकाओं में कहीं-कहीं तीन, चार या पाँच सदन तक होते थे जिनमें प्रत्येक सदन समाज के किसी वर्ग या जागीर का प्रतिनिधित्व करता था। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश संसद को दो सदनों यानी **हाउस आफ लार्ड्स** तथा **हाउस आफ कामन्स** में, बांटा गया था। ब्रिटेन में सांविधानिक सरकार की सफलता ने विभिन्न देशों को द्विसदनीय प्रणाली की उपयोगिता के बारे में आश्वस्त किया है। यदि संघीय राज्य हो तो द्वितीय सदन के पक्ष में एक विशेष तर्क दिया जा सकता है कि पहला या निम्न सदन संपूर्ण संघ की जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है और द्वितीय या उच्च सदन संघीय सिद्धांत अथवा संघ के अंतर्गत राज्यों की इच्छा को मूर्त रूप देता है।

संसार के अधिकांश एकात्मक राज्यों ने भी द्विसदनीय प्रणाली को इसलिए अपनाया है क्योंकि इसके कई लाभ हैं। दूसरे सदन की मौजूदगी एक ही सदन द्वारा जल्दबाजी में और बिना अच्छी तरह से सोचे-विचारे कानून बनाने की प्रवृत्ति पर रोक लगाती है। दूसरा सदन रहने पर किसी प्रस्तावित कानून के प्रस्तुत किए जाने और कानून का रूप लेने के बीच समय बढ़ जाता है और इस तरह सोचने-विचारने और समझने-बूझने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। विधेयक के कानून बनने में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार जो समय लगता है, यह समय उसके अतिरिक्त होता है। विधेयक के प्रथम वाचन, द्वितीय वाचन, समिति अवस्था में अच्छी छानबीन विशेष रूप से जब यह किसी चयन समिति के सुपुर्द किया गया हो। कभी-कभी जनमत जानने के लिये विधेयक के परिचालन यानी प्रसार और तृतीय वाचन के कारण विचार-विमर्श तथा विश्लेषण के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है।

यह तर्क भी दिया जाता है कि द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरंकुशता से व्यक्ति की रक्षा करता है। कहा जाता है कि द्वित्तीय सदन का अस्तित्व स्वतंत्रता बनाए रखने की गारंटी है क्योंकि एक सदनीय प्रणाली में बहुमत प्राप्त दल अन्य किसी संस्था के परामर्श की बाध्यता न रहने के कारण, अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की शक्तियों पर एकाधिकार रखने की कोशिश कर सकता है।

द्विसदनीय पद्धति का एक अन्य लाभ यह है कि राज्य में विशेष हितों, समूहों और वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। प्रत्येक राज्य में समाज के विभिन्न वर्ग होते हैं और जब तक समाज के हर वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं होगा, तब तक एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करेगा। यदि एक ही सदन रहेगा तो सब मतों के लोगों और क्षेत्रीय हितों को प्रतिनिधित्व देना संभव नहीं होगा। द्वित्तीय सदन के होने पर सबको समान अवसर दिया जा सकेगा।

मनोनयन के सिद्धांत पर आधारित द्वितीय सदन सुयोग्य व्यक्ति को विधायिका में प्रवेश का अवसर देता है। कुछ ख्याति प्राप्त लोग चुनाव की परेशानी और झंझट में उलझकर अपनी शांति नहीं खोना चाहते हैं। पर अगर ऐसे लोगों को

विधायिका में स्थान दे दिया जाए, तो उनकी बहुमूल्य राय से सभी लाभान्वित होंगे। विशिष्ट ज्ञान के भंडार के रूप में द्वितीय सदन के सृजन के लिए अनेकानेक तर्क दिए जा सकते हैं। उच्च सदन का कार्यकाल निम्न सदन के कार्यकाल से अधिक लंबा रहता है और उसमें अनुभवी व्यक्ति रहने चाहिए।

द्विसदनीय पद्धति के, इस तरह, बहुविज्ञापित लाभों के बारे में एक सदनीय पद्धति के समर्थकों ने गंभीर प्रश्नचिह्न खड़े कर दिए हैं। प्राय: यह कहा जाता है कि द्विसदनीय विधायिका के दोनों सदनों में मतभेद बना रहता है। अगर द्वितीय सदन में कार्यपालिका द्वारा मनोनीत सदस्य रखे जाते हैं तो उन्हें जनता द्वारा चुने हुए लोकप्रिय सदन को मिले अधिकार प्राप्त नहीं हो पाएँगे। अगर अप्रत्यक्ष ढंग से चुनाव द्वारा उसका गठन होता है, तो ऐसा करके घूसखोरी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलेगा। द्विसदनीय पद्धति के विरुद्ध मुख्य तर्क यही है कि दो सदन होने पर राज्य की एकता के सिद्धांत को आघात पहुँचता है।

पुनरीक्षण करने वाले निकाय के रूप में द्वितीय सदन की उपयोगिता जैसे तर्क का भी खण्डन किया जाता है। प्रथम सदन जनता के प्रति उत्तरदायी और निर्वाचित प्रतिनिधियों को लेकर गठित किया जाता है। अत: यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि ये निर्वाचित प्रतिनिधि द्वितीय सदन द्वारा दिए विपरीत मत को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं होंगे। विशेषतया संसदीय प्रणाली के अंतर्गत ऐसा होता है क्योंकि विधायिका जिम्मेदार मंत्रिमण्डल तथा प्रशासनिक विशेषज्ञों के स्थायी निकाय पर नियंत्रण रखती है। यदि द्वितीय सदन की असहमति होने पर किसी प्रस्तावित कानून का तकनीकी दृष्टि से पुनरीक्षण करना भी पड़े, तो इससे कोई रुकावट नहीं होती।

आजकल लगभग सभी कानूनों पर प्रथम सदन में उनके पारित होने से पहले खूब अच्छी तरह से सोचविचार और बहस हो जाती है। वास्तव में द्वितीय सदन में होने वाली बहस एक तरह से पनुरावृत्ति है। इस पर लगने वाला समय और धन बेमतलब है, इस तर्क में कोई सच्चाई नहीं है कि द्विसदनीय विधायिकाओं में बहुमत की निरंकुशता पर द्वितीय सदन अंकुश लगाने का काम करता है। ऐसी स्थिति में तो कार्यपालिका के निलंबन-विशेषाधिकार जैसे उपायों की व्यवस्था की जा सकती है। साथ ही, सजग विपक्ष तथा जागरूक मतदाता विधायी बहुमत की निरंकुश होने की प्रवृत्ति पर रोक लगा सकता है।

आलोचक यह भी कहते हैं कि संघीय व्यवस्था के अंतर्गत द्वितीय सदन संघीय शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध संघ की इकाइयों की कोई रक्षा नहीं कर सकता। पहली बात तो यह है कि द्वितीय सदन के सदस्य संघ की इकाइयों के हित को देखने के स्थान पर प्राय: अपने दल के हित की ही चिंता में लगे होते हैं। दूसरे, संघीय प्रणाली के परिचालन के दौरान इकाइयों का प्रतिनिधित्व बेअसर और बेकार होने लगता है क्योंकि आज संचार साधनों के द्रुत विकास के कारण हर देश में लोगों के बीच राष्ट्रवाद की भावना जोर पकड़ चुकी है। तीसरे, संविधान में प्रदत्त शक्तियों के मूल वितरण और संघ के कार्यकलापों की न्यायिक समीक्षा द्वारा इकाइयों के हित सुरक्षित हो जाते हैं। इस प्रकार समीक्षकों का मत है कि चाहे कितनी भी वकालत की जाए और कितने ही तर्क क्यों न दिए जाएँ, द्वितीय सदन के गठन को उचित नहीं ठहराया जा सकता।

द्वितीय सदन के कार्य

द्वितीय सदन के कार्यों के बारे में प्राय: तीन सिद्धांत प्रस्तुत किए जाते हैं। द्वितीय सदन सब मामलों में जनता द्वारा निर्वाचित प्रथम सदन के समान अधिकार रख सकता है। ऐसी स्थिति में कई

अवसरों पर गतिरोध होना निश्चित है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि उच्च सदन वित्त संबंधी मामलों में प्रथम सदन के अधीनस्थ हो, परंतु अन्य मामलों में दोनों सदन समान अधिकार रखते हों। ऐसी स्थिति में भी दो सदनों के बीच गतिरोध उत्पन्न हो सकता है। तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार द्वितीय सदन केवल संशोधन और सुधार संबंधी सिफारिश करने का सीमित अधिकार मात्र रख सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, एक समय-सीमा निर्धारित की जा सकती है, जिसके बाद द्वितीय सदन स्वयं पहले अस्वीकृत किसी विधेयक को प्रथम सदन द्वारा दूसरी या तीसरी बार पारित होने पर स्वीकृत कर ले। उदाहरण के लिए गतिरोध को दूर करने का ऐसा तरीका ब्रिटेन के संविधान में है।

विधायी सदनों का वर्गीकरण तथा गठन

गठन की पद्धति के अनुसार द्वितीय सदनों को वंशानुगत और मनोनीत तथा अंशतः निर्वाचित और पूर्णतः निर्वाचित प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ब्रिटेन के *हाउस आफ लार्ड्स* के अपवाद सहित अन्य सब विशुद्ध रूप से वंशानुगत उच्च सदन समय की धारा में प्रवाहित हो चुके हैं।

मनोनीत द्वितीय सदन और वंशानुगत द्वितीय सदन के बीच इस तथ्य द्वारा पहचान की जा सकती है कि वंशानुगत सदस्य अपने बाद पद को अपनी संतान को सौंप सकता है जबकि मनोनीत सदस्य का पद उसकी मृत्यु अथवा संविधान में प्रदत्त अवधि के बाद समाप्त हो जाता है। सैद्धांतिक रूप से द्वितीय सदन के अधिकार प्रथम सदन के समान हो सकते हैं और उसकी स्वीकृति के बिना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता फिर भी व्यवहार में वह निम्न सदन की इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं कर सकता क्योंकि मंत्रिमण्डल निम्न सदन के प्रति ही उत्तरदायी होता है।

यद्यपि द्वितीय सदन के गठन का सिद्धांत विभिन्न देशों में एक समान नहीं है, परन्तु प्रथम सदन के गठन संबंधी सिद्धांत के बारे में वास्तविक रूप से सहमति है। प्रत्येक आधुनिक देश में प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार अधिकाधिक लोगों को उपलब्ध कराया जाता है। जनसंख्या के आधार पर निर्वाचन-क्षेत्रों की संख्या निर्धारित की जाती है। लगभग हर कहीं प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति अपनाई जाती है और आम राय यह है कि मतदाताओं और उनके प्रतिनिधियों के बीच किसी भी मध्यस्थ निकाय द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए।

वैसे तो इन विषयों पर सहमति है, पर मताधिकार के विस्तार की वांछनीयता, बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों के सृजन के सिद्धांत तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की शुरुआत के बारे में विवाद पैदा हो गए हैं।

निम्नलिखित देशों की विधायिकाओं के नाम बताइए : ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ और जापान।

विधायी प्रक्रिया

विधायिका के निकाय आम तौर पर कुछ नियम अपने लिए बना लेते हैं, जिनसे उनके संगठन, कानून पारित करने की पद्धतियाँ, कर तथा स्थगन पर मतदान विनियमित होते हैं। प्रक्रिया संबंधी नियम न केवल जल्दबाजी को रोकते हैं, अपितु व्यवस्थित विचार-विमर्श को सुनिश्चित करते हैं। ये विधायिका द्वारा लिए गए नाना प्रकार के कर्त्तव्यभारों को निबटाने के लिए मिले सीमित समय को प्रभावी ढंग से इस्तेमाल करने की भी व्यवस्था करते हैं।

अधिकांश लोकतंत्रीय देशों के विधायी निकायों द्वारा अपनाई गई प्रक्रियाओं में वास्तविक रूप से सहमति है क्योंकि उन्होंने ब्रिटिश संसद के नमूने को अपना लिया है। इस प्रकार प्रत्येक विधायिका में विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में प्रस्तावित किए जाते हैं। तत्पश्चात् समितियाँ उन पर विचार करती हैं और फिर सदन में उन पर बहस होती है, संशोधन सुझाए जाते हैं, उन पर मतदान होता है और अन्त में संशोधित विधेयक पर मतदान होता है।

अध्यक्ष

एक अन्य महत्वपूर्ण अंतर विधायिका के निम्न सदन के अध्यक्ष की स्थिति को लेकर है। वैसे हर कहीं अध्यक्ष को मूलतः बहुमत-प्राप्त दल अपने बीच से निर्वाचित करता है परंतु एक बार चुन लिए जाने पर वह स्वयं को दलगत स्थिति से अलग कर लेता है। वह सदन की कार्यवाही का निष्पक्ष रूप से संचालन करता है। वह दल के कार्यकलापों में भाग नहीं लेता और सदन में किसी प्रस्ताव के पक्ष या विपक्ष में मत प्रकट नहीं करता। ब्रिटिश परंपरा के अनुसार आम चुनाव में विपक्ष द्वारा उसका विरोध नहीं किया जाता। इसके विपरीत अमरीका में वह दल का सदस्य बना रहता है और वैसा ही व्यवहार भी करता है।

विधायिका का ह्रास

शासकीय कार्यों में कार्यपालिका का बढ़ता नेतृत्व तथा विधायिका का ह्रास समसामयिक विश्व के दो मान्य सत्य हैं। कठोर संगठनात्मक अनुशासन वाले सुसंगठित राजनीतिक दलों के अस्तित्व में आने, वाद विवाद के लिए अत्यधिक समयाभाव और आधुनिक विधिनिर्माण के तकनीकी स्वरूप ने विधायिका के पतन में योग दिया है।

संगठनात्मक अनुशासन में कठोरता के आने से संसदीय तथा अध्यक्षीय दोनों प्रणालियों में कार्यपालिका को विधायिका पर नियंत्रण रखने का अधिकार मिल जाता है, परंतु अध्यक्षीय प्रणाली में शक्ति-पार्थक्य के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने के कारण विधायिका पर कार्यपालिका का नियंत्रण कुछ कम रहता है, दूसरे, कानून बनाने की प्रदत्त व्यवस्थापन जैसी नई प्राविधि के कारण विधायिका का महत्व और कम हो गया है। आधुनिक सामाजिक विधि-निर्माण से अनेकानेक तकनीकी बारीकियाँ जुड़ी हैं। कानूनों में भविष्य की सभी आवश्यकताओं का ध्यान रखना असंभव है। अतः लगभग हर देश में विधायिका कार्यपालिका को कानूनों में दिखने वाली अपूर्णताओं को नियमों तथा विनियमों द्वारा दूर करने और यहाँ तक कि उनका विस्तार करने और उन्हें परिवर्धित करने के प्राधिकार देती है। सामान्यतः विधायी क्षेत्र में कार्यपालिका के हस्तक्षेप के कारण भी विधायिका की प्रतिष्ठा तथा महत्व में काफी कमी आ गई है। अंत में, लोक कल्याणकारी राज्य में विधिनिर्माण के कार्य में वृद्धि के कारण कानून बनाने संबंधी बहस के लिए यथोचित समय नहीं मिलता है। विधायिका के पास कार्य-पालिका के निर्णयों पर विस्तृत बहस और सावधानीपूर्वक छानबीन के लिए पर्याप्त समय नहीं होता। परिणामस्वरूप विधायिका के प्राधिकार क्षेत्र का ह्रास हुआ है।

ब्रिटेन के संसदीय लोकतंत्र में विधायिका का ह्रास संयुक्त राज्य अमरीका की अध्यक्षीय प्रणाली की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ है। अन्य देशों में भी संसदीय प्रणाली के बारे में यही बात सच है।

कुछ करने को

राजनीति विज्ञान के छात्र अपनी कक्षा में नीचे दिये गए विषय पर एक वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन करें।

"इस सदन की राय में आधुनिक विश्व में विधायिका का द्वितीय सदन न तो आवश्यक है और न ही लोकतांत्रिक।"

अभ्यास

1. विधायिका कितने प्रकार की होती है? उत्तर में उपयुक्त उदाहरण दीजिए।
2. द्विसदनीय प्रणाली के गुणों और दोषों की व्याख्या कीजिए।
3. विधायिका के ह्रास के कारणों की चर्चा कीजिए।
4. विधायिका के कार्यों की व्याख्या कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

   (क) प्रदत्त व्यवस्थापन।

   (ख) परिपृच्छा तथा पहल।

   (ग) जनमत संग्रह तथा प्रत्याहृवान।

अध्याय 3

भारत की विधायिका

भारत की केंद्रीय विधायिका का नाम संसद है। यह एक द्विसदनीय विधायिका है। इस प्रकार भारत की विधायिका में राष्ट्रपति सहित दो सदन हैं : (1) राज्य सभा और (2) लोकसभा। राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। संसद द्वारा पारित सभी विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात् अधिनियम बन जाते हैं। वह समय-समय पर संसद की बैठक बुलाता है तथा उसका सत्रावसान करता है। पर संसद के प्रत्येक सदन की बैठक जब समाप्त होती है तो इस समाप्ति के छह माह के अंदर सदन की बैठक पुन: बुलाना आवश्यक है। राष्ट्रपति लोकसभा को आम चुनाव कराने के लिए भंग भी करता है। कुछ अवस्थाओं में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक भी बुलाई जा सकती है।

संसद की सदस्यता के लिए योग्यताएँ

संसद के किसी भी सदन में चुने जाने के लिए व्यक्ति को भारत का नागरिक होना चाहिए। राज्य सभा में चुने जाने के लिए उसे कम से कम 30 वर्ष और लोक सभा के लिए 25 वर्ष की आयु का होना चाहिए। वह मानसिक रूप से स्वस्थ हो और दीवालिया न हो। सदस्यों के लिए संसद अतिरिक्त योग्यताएँ भी निर्धारित कर सकती है।

संसद की सदस्यता के लिए अयोग्यताएँ

किसी व्यक्ति को संसद के किसी सदन की सदस्यता के लिए कुछ स्थितियों में अयोग्य भी ठहराया जा सकता है। यदि (क) वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन लाभकारी पद पर काम करता हो, (ख) वह मानसिक रूप से अस्वस्थ हो और सक्षम न्यायालय द्वारा इस तथ्य की घोषणा की गई हो, (ग) वह अमुक्त दीवालिया हो, (घ) उसने स्वेच्छा से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त कर ली हो, और (ङ) संसद द्वारा बने किसी कानून द्वारा उसे अयोग्य ठहराया गया हो।

सदस्यों के वेतन और भत्ते तथा सदन का कार्य संचालन

संसद के प्रत्येक सदन के सदस्य को संसद के कानून द्वारा निर्धारित समय-समय पर नियत वेतन और भत्ते मिलते हैं।

प्रत्येक सदन के हर सदस्य को अपना पद ग्रहण करने से पहले शपथ लेनी पड़ती है। कुछ

विशेष प्रकरणों को छोड़कर सब प्रश्न सदन में उपस्थित और मतदान कर रहे सदस्यों के मतों के बहुमत द्वारा तय होते हैं। सदन की कुल सदस्य संख्या के दसवें भाग की उपस्थिति को गणपूर्ति या कोरम कहा जाता है। यदि किसी बैठक के दौरान कोरम पूरा नहीं होता, तो सदन का स्थगन या निलंबन कर दिया जाता है।

राज्य सभा

गठन

राज्य सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 है। इनमें से 238 सदस्य राज्यों तथा संघशासित क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं और 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा कला, विज्ञान, साहित्य और समाज सेवा के क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त व्यक्तियों को प्रतिनिधित्व देने के लिए मनोनीत किए जाते हैं। इस सदन का चुनाव अप्रत्यक्ष ढंग से होता है। राज्य सभा में प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधि उस राज्य की विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा एकल हस्तांतरणीय मत और आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली से चुने जाते हैं। संघशासित क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को भी विशेष निर्वाचक-मंडल द्वारा इसी पद्धति से चुना जाता है। भारत का उप-राष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। उप सभापति को राज्य सभा के सदस्यों में से चुना जाता है। राज्य सभा एक स्थायी सदन है जिसे भंग नहीं किया जाता। परंतु इसके एक तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष बाद पद मुक्त होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य का कार्य काल छः वर्ष है और वह पुनः निर्वाचित हो सकता है।

लोक सभा

गठन

लोक सभा के सदस्य विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। प्रत्येक राज्य में लोक सभा के लिए स्थानों का आवंटन ऐसी रीति से किया जाता है कि स्थानों की संख्या से उस राज्य की जनसंख्या का अनुपात सभी राज्यों के लिए यथासंभव एक ही हो। सदन का कार्यकाल उसकी पहली बैठक की तारीख से पाँच वर्ष का होता है। लोक सभा को इस अवधि से पहले भी भंग किया जा सकता है। इसका कार्यकाल आपात स्थिति की अवधि में एक वर्ष तक बढ़ाया भी जा सकता है। लेकिन आपात स्थिति की उद्घोषणा समाप्त होने के बाद इसे छह माह की अवधि से आगे किसी भी दशा में नहीं बढ़ाया जा सकता।

लोक सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 550 रहेगी। इनमें से 530 राज्यों के निर्वाचन क्षेत्रों से वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे जनता द्वारा चुने जाते हैं। 20 सदस्य संघ शासित क्षेत्रों से निर्वाचित होते हैं। उन्हें संसद द्वारा निर्धारित कानून के अनुसार निर्वाचित किया जाता है। यदि राष्ट्रपति के मतानुसार सदन में आंग्ल-भारतीय (ऐंग्लो-इण्डियन) समुदाय को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला हो तो ऐसी स्थिति में वह इस समुदाय के दो सदस्य मनोनीत कर सकता है।

भारत के प्रत्येक नागरिक को जो 21 वर्ष की आयु का है और अन्यथा अयोग्य नहीं है, मतदान का अधिकार प्रदान किया गया है। लोक सभा में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थानों का आरक्षण किया गया है। 45वें संविधान संशोधन के अंतर्गत ऐसा प्रावधान किया गया है कि यह आरक्षण 25 जनवरी 1990

तक जारी रहेगा। आरक्षण की यह व्यवस्था संभवतः 1990 के बाद भी जारी रहेगी। लोक सभा में राज्यों की सदस्य संख्या उस राज्य की जनसंख्या के आधार पर तय होती है। इस उद्देश्य से प्रत्येक राज्य को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है।

> पता लगाइये कि लोक सभा में भारत का कौन-सा राज्य सबसे अधिक और कौन-सा राज्य सब से कम चुने हुए प्रतिनिधि भेजता है।

अध्यक्ष

लोक सभा अपने सदस्यों में से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है। दोनों लोक सभा के कार्यकाल तक (जो आम तौर पर पाँच वर्ष का होता है) के लिए चुने जाते हैं। अध्यक्ष लोक सभा की अध्यक्षता करता है। वह मतदान नहीं करता लेकिन दोनों पक्षों के बीच मतों की संख्या के बराबर होने की स्थिति में वह अपना निर्णायक मत दे सकता है। वह यह भी प्रमाणित करता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं। वह लोक सभा और राज्य सभा की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता भी करता है। अध्यक्ष या उपाध्यक्ष उस समय अध्यक्षता नहीं करते जब उन्हें हटाने संबंधी प्रस्ताव पर सदन में बहस होती है। लेकिन उसे ऐसे प्रस्ताव पर बहस के दौरान सदन की कार्यवाही में भाग लेने और बोलने का अधिकार दिया गया है।

जी. वी. मावलंकार (1818-1956 ईसवी)
भारत की लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष। कुछ मुख्य पुस्तकें : "काही फूले" (Kahee Phuley), "माई लाइफ एट दी बार" (My Life at the Bar)

संसद की शक्तियाँ तथा कार्य

संसद की विधायी शक्तियों में विधि-निर्माण या कानून बनाना (सामान्य और वित्तीय), प्रदत्त व्यवस्थापन और अध्यादेश को स्वीकृति देना है। सभी विधेयकों को संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित किया जाता है। दोनों ही सदन अलग-अलग अपनी बैठकों में कानून के बारे में रखे गए प्रस्तावों पर विचार करते हैं। यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक पर मतभेद उत्पन्न हो जाता है, तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता है। इस संयुक्त बैठक में लोक सभा के ही मत को सामान्यतः मान्यता मिलती है क्योंकि उसकी सदस्य संख्या अधिक होती है।

विधि-निर्माण के विविध विषय संविधान की सातवीं अनुसूची में गिनाए गए हैं। संघ सूची में 97 विषय रखे गए हैं जिनमें रक्षा, विदेशी मामले, संचार-व्यवस्था, मुद्रा और सिक्का-ढलाई, बैंकिंग और सीमा शुल्क आदि शामिल हैं। इन पर कानून बनाने का अधिकार केवल संसद को है। राज्य विधान मण्डल को राज्य सूची में दिए गए 66 विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। इस सूची में पुलिस तथा सार्वजनिक व्यवस्था, कृषि और सिंचाई, चिकित्सा एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन आदि शामिल है। समवर्ती सूची में 47 विषय हैं जिनमें

आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन, कानूनी प्रश्न, श्रम, शिक्षा, कीमत-नियंत्रण आदि शामिल हैं। इन विषयों पर कानून बनाने का अधिकार संघ तथा राज्य दोनों को प्राप्त हैं, परंतु मतभेद की स्थिति में केंद्रीय विधायिका द्वारा बनाए गए कानून ही मान्य होंगे। यदि राज्य सूची में किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दिया जाए, तो उस विषय पर, और सभी विषयों पर आपात स्थिति में संसद कानून बना सकती है।

सभी वित्तीय विधेयकों को राष्ट्रपति की पूर्वानुमति मिलनी चाहिए। धन विधेयकों के संबंध में लोक सभा की शक्तियाँ राज्य सभा की अपेक्षा अधिक हैं। धन विधेयक का प्रारंभ लोक सभा में ही होता है और लोक सभा से पारित होकर ही वह राज्य सभा में जाता है। राज्य सभा को यह धन विधेयक 14 दिन के अंदर लोक सभा को वापस भेजना होता है। यह लोक सभा की इच्छा पर निर्भर है कि वह राज्य सभा द्वारा दिए गए सुधार संबंधी सुझाव मान ले या न माने। लेकिन सरकार द्वारा प्रस्तुत अनुदान मांगों पर स्वीकृति देने का अधिकार केवल लोक सभा को है। प्रदत्त व्यवस्थापन भी संसद के पुनरीक्षण तथा नियंत्रण में रहता है। आपात स्थिति के समय तथा संविधान में निर्धारित कुछ अन्य आकस्मिक स्थितियों में भी संसद का विधायी प्राधिकार राज्यसूची में गिनाए गए मामलों पर लागू होता है। कुछ ऐसे मामलों को छोड़कर, जिनमें संविधान के अनुसार कम से कम आधे राज्यों की विधायिकाओं द्वारा अनुसमर्थन आवश्यक होता है, संविधान में संशोधन का अधिकार मुख्यतः संसद के ही पास होता है। यद्यपि राष्ट्रपति सशस्त्र सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति होता है, इस शक्ति का प्रयोग कानून द्वारा विनियमित होता है। सशस्त्र सेनाओं और युद्ध तथा शांति के बारे में संसद को पूर्ण विधायी अधिकार प्राप्त है।

संसद का अन्य महत्वपूर्ण कार्य कार्यपालिका पर नियंत्रण करना है। मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। मंत्रिपरिषद के सदस्य संसद के दोनों सदनों के सदस्यों के प्रश्नों के उत्तर देते हैं। भारत जैसी संसदीय प्रणाली वाले देशों में सरकार का कार्यकाल उसी समय तक बना रहता है जब तक उसे लोक सभा में बहुमत का विश्वास प्राप्त है।

संसद विभन्न प्रकार के प्रश्न पूछ कर मंत्रियों पर नियंत्रण रखती है। यदि संसद सदस्य मंत्रियों के उत्तर से संतुष्ट न हों तो वे उस मंत्री से प्रश्न के साथ पूरक प्रश्न भी पूछ सकते हैं। राज्य सभा को भी मंत्रियों से उनके विभाग से संबंधित सूचना प्राप्त करने का पूरा अधिकार है परंतु वह सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास नहीं कर सकती। प्रश्नोत्तर काल तथा अन्य तरीकों से, जिनकी चर्चा आगे की गई है, संसद सरकार से महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करती है। साथ ही साथ संसद जनता की कठिनाईयों को प्रकाश में लाने का एक अच्छा मंच है। जन प्रतिनिधि द्वारा किए जाने वाले वाद-विवाद से लोगों के मत को जानने का अवसर मिलता है। यह सरकार को जनमत के प्रति सचेत रखती है। इस प्रकार संसद, सरकार और जनता के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करती है।

भारत की संसद को चुनाव संबंधी कार्य भी करने पड़ते हैं। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं। संसद के दोनों सदनों के सदस्य उपराष्ट्रपति का भी चुनाव करते हैं। इसके अतिरिक्त लोकसभा अपने अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव भी करती है। राज्य सभा भी अपना उपसभापति स्वयं चुनती है।

भारत की संसद राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा पद से हटा सकती है। यह संसद का एक प्रकार

का न्यायिक अधिकार है। उपराष्ट्रपति को पदच्युत करने के लिये प्रस्ताव का प्रारम्भ राज्य सभा में किया जाता है और राज्य सभा से पास होकर वह लोक सभा में आता है। उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों को राष्ट्रपति पदच्युत कर सकता है, यदि ऐसा प्रस्ताव संसद के दोनों सदनों में विशिष्ट बहुमत द्वारा पास किया गया हो।

इन शक्तियों के अतिरिक्त संसद की कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं। राष्ट्रपति द्वारा की गई आपातकालीन घोषणा के लिए संसद की स्वीकृति आवश्यक है। आपातकालीन स्थिति को संसद एक प्रस्ताव पारित कर समाप्त भी कर सकती है। राज्य सभा राज्यसूची में दिए गए किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का विषय घोषित करके एक प्रस्ताव द्वारा उस विषय पर संसद को कानून बनाने का अधिकार दे सकती है। राज्य सभा किसी नई अखिल भारतीय सेवा की भी स्थापना कर सकती है।

प्रदत्त व्यवस्थापन

विधायिका को कानून बनाने का काम इतना अधिक होता है कि उसके पास विधायी ब्यौरे पर विस्तार से ध्यान देने का समय नहीं रहता। फिर, कभी-कभी उसके पास कानून बनाने संबंधी विषय इतना तकनीकी किस्म का होता है कि वह केवल मोटे-मोटे सिद्धांतों को शब्दबद्ध करके ब्यौरे को छोड़ देती है। कभी-कभी ऐसी तात्कालिक स्थितियाँ अथवा कठिन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिन पर तुरंत कानून बनाने की आवश्यकता होती है। जल्दबाजी में पूरे ब्यौरे पर नज़र नहीं रखी जा सकती। विधायिका अपने अपरिहार्य विधायी कार्य से विमुख नहीं हो सकती। इसलिए विधायी नीति के निर्धारण की, और उस नीति को कार्यान्वित करने के लिए औपचारिक रूप से कानून बनाने की आवश्यकता होती है। विधायिका को इस बात की स्वतंत्रता है कि वह मोटे तौर पर नीति को निर्धारित करके उतना ही ब्यौरा दे, जितना आवश्यक है, शेष विधायी कार्य को वह अपने अधीनस्थ विभागों को सौंप देती है। जब नीति निर्धारित हो चुकी हो और कानून द्वारा कोई मानक नियत किया जा चुका हो, तो निर्धारित सीमाओं के अंदर नियमावली बनाने के अधिकार को सांविधानिक रूप से कार्यपालिका को सौंपा जा सकता है।

संसद तथा उसके सदस्यों के विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ

संविधान संसद तथा राज्य विधान मण्डलों के सदस्यों को कुछ अधिकार, विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान करता है। इन विशेषाधिकारों को संसद कानून द्वारा और अधिक परिभाषित कर व्यापक बना सकती है। ये विशेषाधिकार कुछ ऐसे अधिकार हैं जो सदस्यों को विभिन्न कार्यों के समुचित निष्पादन के लिए दिए जाते हैं। संविधान में दो प्रमुख विशेषाधिकारों, *अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा* प्रकाशन के अधिकार, पर बल दिया गया है। सदस्यों के ये विशेषाधिकार दो प्रकार के हैं :

(क) सदस्यों द्वारा उपयोग किए जाने वाले विशेषाधिकार, तथा (ख) संसद को सामूहिक रूप में दिए गए विशेषाधिकार

संसद के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से प्राप्त प्रमुख विशेषाधिकारों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, गिरफ्तारी से स्वतंत्रता, न्यायालयों में प्रमाण पुरुष तथा गवाहों के रूप में उपस्थिति से छूट आदि है। इसके अतिरिक्त संसद के किसी सदस्य पर संसद अथवा उसकी किसी समिति में कही गई किसी बात तथा मतदान के संबंध में किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जा

सकती, न ही इस संबंध में सदस्यों को गिरफ्तार किया जा सकता है। सदन के बुलाए जाने से 40 दिन पहले और स्थगित होने के 40 दिन बाद तक तथा सदन के सत्र के दौरान किसी भी सदस्य को दीवानी के मामलों में गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। यह उल्लेखनीय है कि यह विशेषाधिकार सदस्यों को फौजदारी मामलों में उपलब्ध नहीं होता।

संसद को सामूहिक रूप से भी कुछ मुख्य विशेषाधिकार मिले हुए हैं, जैसे :

1. सदन की बहसों तथा कार्यवाहियों के प्रकाशन करने और अन्य व्यक्तियों द्वारा इनके प्रकाशन पर प्रतिबंध लगाने का अधिकार,
2. सदन के आंतरिक मामलों को विनियमित करने का अधिकार,
3. संसद में दुर्व्यवहार के लिए किसी व्यक्ति को दंड देने का अधिकार,
4. संसदीय विशेषाधिकारों के उल्लंघन के लिए किसी व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार। संसद में दुर्व्यवहार अथवा संसदीय विशेषाधिकार के उल्लंघन के लिए किसी व्यक्ति को चेतावनी, प्रताड़ना तथा कैद आदि के रूप में दण्ड दिया जा सकता है।

राज्यों के विधान मण्डल

राज्यों की शासन पद्धति केंद्रीय सरकार के ही अनुरूप है। राज्य के विधानमण्डल में राज्यपाल और विधानमण्डल के एक या दो सदन (जैसी भी स्थिति हो) होते हैं।

इस प्रकार, प्रत्येक राज्य में एक विधानमंडल होता है जो राज्यपाल तथा (क) जम्मू-कश्मीर, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और उत्तर प्रदेश राज्यों में विधान सभा और विधान परिषद नामक दो सदनों और (ख) अन्य राज्यों में विधान सभा नामक एक सदन से मिलकर बनता है।

राष्ट्रपति की तरह राज्यपाल भी राज्य विधानमण्डल का अभिन्न अंग होता है। वह समय-समय पर सदन या सदनों की बैठकें बुलाता है तथा उनका सत्रावसान करता है। राज्य विधानमण्डल की अंतिम बैठक और अगले सत्र की पहली बैठक के बीच छह मास का समय नहीं बीतना चाहिए। राज्यपाल किसी भी समय सदन या सदनों को (जैसी भी स्थिति हो) संबोधित कर सकता है या उन्हें अपने संदेश भेज सकता है। प्रत्येक आम चुनाव के बाद राज्यपाल विधान सभा की पहली बैठक में और प्रत्येक वर्ष के पहले सत्र में विधान सभा को संबोधित करता है।

विधान सभा

गठन

प्रत्येक राज्य की विधान सभा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा गठित होती है। विधान सभा के सदस्यों की कुल संख्या प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाने पर 500 से अधिक या 60 से कम नहीं होती। इस उद्देश्य से प्रत्येक राज्य को विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में बांटा जाता है, जहाँ तक संभव हो, प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या तथा उसे आबंटित स्थानों की संख्या के बीच का अनुपात राज्य भर में समान रहना चाहिए। अनुसूचित जातियों के लिए कुछ स्थान आरक्षित हो सकते हैं। राज्यपाल आंग्ल-भारतीय समुदाय के प्रतिनिधियों को भी मनोनीत कर सकता है।

विधान सभा के उम्मीदवार को भारत का नागरिक और न्यूनतम 25 वर्ष की आयु का होना चाहिए। वह सरकार के अंतर्गत कोई लाभकारी पद न धारण करता हो और मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ हो। प्रत्येक विधान सभा (यदि पहले ही भंग न कर दी जाए) अपनी पहली बैठक की तारीख से पाँच वर्ष तक बनी रहती है। आपात स्थिति में उसकी अवधि एक वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है।

विधान सभा अपने सदस्यों में से अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है। विधान सभा के सदस्यों के बहुमत से पारित प्रस्ताव द्वारा उन्हें पदों से हटाया भी जा सकता है।

राज्य विधान परिषद्

विधान परिषद् एक स्थायी निकाय होती है और यह भंग नहीं की जा सकती परंतु इसके एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक दो वर्षों के बाद सेवा-निवृत्त होते हैं। यदि संबंधित विधान सभा विधान परिषद् को समाप्त करने के लिए प्रस्ताव पारित कर दे, तो संसद उसे समाप्त कर देती है।

गठन

विधान परिषद् में विधान सभा की कुल सदस्य संख्या के एक तिहाई के बराबर सदस्य रहते हैं लैकिन उनकी संख्या 40 से कम नहीं हो सकती। इनमें से 1/3 स्थानीय स्वशासी निकायों द्वारा, 1/3 विधान सभा के सदस्यों द्वारा, 1/12 भाग राज्य के विश्वविद्यालयों के कम से कम तीन वर्षों के स्नातकों द्वारा और 1/12 भाग माध्यमिक से लेकर उच्चतर विद्यालयों के कम से कम तीन वर्ष से कार्यरत शिक्षकों द्वारा चुने जाते हैं। 1/3 सदस्यों को विधान सभा गैर-सदस्यों (यानी विधान सभा की सदस्यता न रखने वाले व्यक्तियों) में से निर्वाचित करती है और शेष सदस्यों का मनोनयन राज्यपाल द्वारा साहित्य, कला, विज्ञान या समाज सेवा के क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त व्यक्तियों में से किया जाता है। इस प्रकार विधान परिषद् का गठन अप्रत्यक्ष रूप से होता है।

विधान परिषद का सदस्य बनने के लिए किसी व्यक्ति के पास विधान सभा का सदस्य बनने के लिए निर्धारित योग्यताएँ होनी चाहिए। उसकी आयु कम से कम 30 वर्ष होनी चाहिए।

राज्य विधानमण्डल की शक्तियाँ तथा कार्य

विधान परिषद् विधान सभा से धन विधेयक को पारित होने के 14 दिनों की अवधि के अंदर उसमें परिवर्तनों के बारे में सिफारिश ही कर सकती है। परिषद् की सिफारिश स्वीकार या अस्वीकार करने से संबंधित विधान सभा की स्वतंत्रता को इससे किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होना चाहिए। यदि परिषद् विधान सभा द्वारा पारित विधेयक को अस्वीकृत कर देती हैं या परिषद् तीन माह तक उस पर विचार नहीं करती या परिषद् विधान सभा द्वारा अस्वीकृत संशोधनों के साथ उसे पारित कर देती हैं तो विधान सभा उस विधेयक को फिर से पारित करके परिषद् को भेज सकती है। यदि परिषद् उसे दूसरी बार अस्वीकृत कर देती है या (परिषद् द्वारा प्राप्ति की तारीख से) एक माह के अंदर उसे पारित नहीं करती या ऐसे संशोधन के साथ उसे पारित कर देती है जो विधान सभा को स्वीकृत नहीं हैं तो उस स्थिति में विधेयक को दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित मान लिया जाता है जिससे वह विधान सभा द्वारा पारित हुआ था।

राज्य सभा की भाँति विधान परिषद् को भी वित्तीय क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त नहीं है।

विधान सभा में बहुमत रखने वाले दल के नेता को राज्यपाल मुख्यमंत्री नियुक्त करता है। मुख्यमंत्री की सिफारिश पर वह विधान सभा तथा विधान परिषद् के सदस्यों में से अन्य मंत्रियों को नियुक्त करता है।

मंत्रि-परिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है। विधान परिषद् में मंत्रि-परिषद् के विरुद्ध मतदान होने की स्थिति में मंत्रि-परिषद् को त्यागपत्र नहीं देना पड़ता। विधान सभा सरकार के विरुद्ध निंदा प्रस्ताव पारित करके मंत्रि-परिषद् में अविश्वास व्यक्त कर सकती है। ऐसा होने पर मंत्रि-परिषद् को त्यागपत्र देना पड़ता है और नई सरकार बनाई जाती है।

जैसा पहले ही कहा जा चुका है, राज्य का विधानमण्डल राज्य सूची और समवर्ती सूची में रखे सब विषयों पर कानून बनाने के लिए सक्षम होता है। समवर्ती सूची के विषयों के बारे में उसे अनन्य अधिकार प्राप्त नहीं होते। राज्य विधानमंण्डल द्वारा पारित कुछ कानूनों के लिए राष्ट्रपति की भी स्वीकृति चाहिए। पर जब आपात स्थिति की उद्घोषणा जारी हो, उस समय संसद को राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार प्राप्त होता है। सामान्य स्थिति में भी संसद राज्य सूची के विषयों पर राष्ट्र के हित में कानून बना सकती है।

विधान सभा के निर्वाचित सदस्य भारत के राष्ट्रपति को चुनने के लिए निर्वाचक मण्डल में सम्मिलित होते हैं।

राज्य का विधानमण्डल, वित्तीय नियंत्रण के सामान्य अधिकार का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त वह कार्यपालिका के दिन प्रति दिन के कार्य पर नजर रखने के लिए प्रश्नों, चर्चा, बहस, स्थगन और अविश्वास प्रस्तावों जैसी सभी सामान्य संसदीय युक्तियों का प्रयोग करता है। यह सुनिश्चित करने के लिए कि विधान मण्डलों द्वारा स्वीकृत अनुदानों का सही ढंग से उपयोग हो, विधान सभाएँ आकलन तथा सार्वजनिक लेखा समितियाँ भी नियुक्त करती हैं।

संसदीय समितियाँ

आधुनिक लोकतंत्रीय कल्याणकारी राज्य में सरकार का काम बहुत अधिक बढ़ गया है। यह काम बहुत जटिल और व्यापक भी है। राज्य सामूहिक जीवन के आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भारी जिम्मेदारी उठाता है। निर्वाचित विधायिका से यह अपेक्षा की जाती है कि यह इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए सक्षम होगी। प्रत्येक क्षेत्र में नीति के ब्यौरे और उसकी व्यवहार्यता पर विचार करके, उसे स्वीकृति देनी होती है। साथ ही, क्रियान्वयन पर अत्यधिक सावधानी रखनी पड़ती है। यह याद रखा जाना चाहिए कि सक्रिय लोकतंत्र के महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में प्रशासनिक लोक सेवकों का होना आवश्यक है। अतः विधायिका को यह सुनिश्चित करने के लिए निरंतर चौकन्ना रहना होगा कि उन लोक सेवकों द्वारा विशाल कार्यपालक अधिकारों का प्रयोग समुचित ढंग से हो। इन अधिकारों को लोक सेवकों द्वारा ईमानदारी और निष्ठा से प्रयोग किया जाना चाहिए।

स्पष्ट है कि विधायिका के सभी सदस्य, एक निकाय के रूप में सामूहिक तौर पर इन कार्यों का निष्पादन नहीं कर सकते। सदस्यों की बड़ी संख्या होने के कारण ऐसा संभव भी नहीं है। आधुनिक लोकतंत्र में संसदीय समितियों के माध्यम से काम करने की प्रणाली विकसित हुई है। प्रत्येक समिति में संसद या विधानमण्डल के सदस्य रहते हैं। इनका निर्वाचन सदन के सदस्यों द्वारा किया जाता है, या अध्यक्ष इनको मनोनीत करता है। आमतौर पर समिति एक वर्ष के लिए गठित होती

है। ऐसी समितियों की संख्या, राज्य द्वारा हस्तगत किए गए कार्य की मात्रा और विधायिका द्वारा उस कार्य में ली गई रुचि की मात्रा पर निर्भर करती है। आशा की जाती है कि समितियों में सदन के सभी दलों के प्रतिनिधि रहेंगे। उन्हें बैठकें करके, साक्ष्य मांग कर, गवाहों की जाँच करके पूर्ण विचार के बाद, अपनी रिपोर्ट या निर्णय संसद के सामने प्रस्तुत करने होते हैं। संसद इस रिपोर्ट पर विचार करके यथोचित कार्यवाही करती है।

आज सर्वत्र अपनाई गई संसदीय समिति प्रणाली द्वारा विधायिका के लिए श्रम विभाजन के सिद्धांत पर काम करना संभव हो सका है। किसी विषय में विशेष रुचि रखने वाले विधायकों से अनुरोध किया जाता है कि वे उस विषय संबंधी नीतियों और कार्यवाहियों के निर्धारण में अपनी सामर्थ्य, अनुभव तथा प्रतिभा द्वारा योगदान दें। संसदीय समितियों की प्रणाली का दूसरा महत्वपूर्ण लाभ यह है कि सरकार का काम सदन के बड़े-बड़े खण्डों में बंट जाता है। इससे राज्य के मामलों के बारे में उचित जानकारी और यथार्थ की भावना का उदय होता है। यह लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है। ये समितियाँ संविधान द्वारा सृजित सांविधिक निकाय नहीं हैं और पूर्णतया संसद द्वारा बनाई जाती हैं। इस प्रकार संसद के नियम-निर्माण अधिकार के अंतर्गत इनका जन्म होता है।

लोक सभा की कार्यविधि में कई समितियों की व्यवस्था की गई है। यहाँ उनमें से दो के बारे में हम कुछ विस्तार से वर्णन करेंगे।

सार्वजनिक लेखा समिति

प्रत्येक वर्ष संसद के पहले सत्र के आरम्भ में लोक सभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर 15 सदस्यों की एक समिति गठित की जाती है। इस समिति को यह देखना होता है कि व्यय की गई धनराशियाँ कानूनन उपलब्ध थीं या वास्तव में वे उन उद्देश्यों से ही संबंध रखती थीं जिनके लिए उनका खर्च होना दिखाया गया था। यह समिति इस बात की भी जाँच करती है कि खर्च विनियमित करने वाले अधिकार के अनुरूप हुआ है या नहीं। यह उस व्यापार तथा लाभ-हानि लेखे की भी जाँच करती है जिसे तैयार करने का निर्देश राष्ट्रपति ने दिया हो। यह महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट की भी जाँच करेगी। इस संसदीय समिति द्वारा की गई छानबीन के कारण कार्यपालिका पर बड़ा नियंत्रण रहता है। राष्ट्रीय खर्च में हुई अनियमितताओं को इसकी रिपोर्ट प्रकाश में लाती है, यद्यपि उन्हें पूर्वप्रभावी रूप से ठीक नहीं किया जा सकता। समिति द्वारा यह जाँच शव परीक्षा जैसी होती है और उससे भविष्य के लिए न केवल चेतावनी मिलती है, अपितु सही मार्गदर्शन भी होता है।

आकलन समिति

इस समिति में अधिकतम 25 सदस्य होते हैं जिन्हें प्रत्येक वर्ष लोक सभा अपने सदस्यों में से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार चुनती है। इस समिति के सदस्य एक वर्ष तक अपने पद पर रहते हैं। इस समिति का कर्त्तव्य ऐसी कम खर्ची, संगठन में सुधार, कार्य कुशलता या प्रशासनिक सुधार के बारे में रिपोर्ट करना है जिसको आकलनों में प्रभावी बनाया जा सके। यह प्रशासन में मितव्ययिता और कार्यकुशलता लाने के बारे में वैकल्पिक नीतियाँ भी सुझाती है। इसे इस बात की भी जाँच करनी होती है कि क्या आकलनों में निहित नीति की सीमाओं के अंदर धन को अच्छी तरह खर्च किया गया है। यह समिति ऐसे तरीके भी सुझाती है जिनके अनुसार आकलन संसद में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

धन के वास्तव में खर्च होने के कुछ समय बाद सार्वजनिक लेखा समिति को लेखे की जाँच करनी होती है। इसकी आलोचना और रहस्योद्घाटन से प्रकाशन पर आगे सतर्क रहने के लिए अच्छा अंकुश लग जाता है। इसके विपरीत, आकलन समिति वित्तीय वर्ष के दौरान विभिन्न मंत्रालयों के कार्य संचालन से संबंध रखती है। चालू वर्ष के बजट में किसी मंत्रालय के लिए स्वीकृत आकलनों की पृष्ठभूमि में, यह समिति लगभग उसी समय में मंत्रालय के खर्च की जाँच करती है, जब वह खर्च हो रहा होता है। इस प्रकार यह समिति मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता सुनिश्चित करने के लिए अपनी सिफारिशें देती है। इस प्रकार ये दो समितियाँ एक दूसरे की पूरक हैं।

अन्य समितियाँ

इन दो समितियों के अतिरिक्त कार्य परामर्श समिति, निजी सदस्यों के विधेयकों तथा प्रस्तावों पर समिति, अधीनस्थ विधि-निर्माण समिति, शासकीय आश्वासन समिति, सदस्यों की अनुपस्थिति पर समिति, नियम समिति तथा संसदीय समितियाँ होती हैं। इनके नामों से ही बहुत कुछ पता चल जाता है कि इनके द्वारा कौन से कार्य किए जाते हैं।

संविधान संशोधन प्रक्रिया

जब भी देश में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो उस समय संविधान में संशोधन की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जाती है। यदि संविधान में समय की गति के अनुसार परिवर्तन न किया जाए तो वह राष्ट्र के जीवन की धारा के प्रवाह के रास्ते में रुकावट बन सकता है। इसी बात को समझते हुए प्रत्येक संविधान में संशोधन की प्रक्रिया की व्यवस्था रहती है।

यदि लचीला या नमनीय संशोधन हो, तो उसके हर भाग में सामान्य विधायिका ही अन्य कानूनों की तरह आसानी से संशोधन कर सकती है, या किसी अंश को रद्द कर सकती है। ब्रिटेन और इटली में ऐसी ही स्थिति है। यद्यपि इसमें खतरा है कि जल्दबाजी में अचानक परिवर्तन कर दिया जाए। कठोर संविधान के बारे में यह बात है कि उसे विधि निर्माण की किसी असामान्य पद्धति से ही परिवर्तित किया जा सकता है, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका में। आम तौर पर संयुक्त राज्य अमरीका जैसे संघीय संविधान कठोर या अनमनीय हैं क्योंकि उनमें से अधिकांश में संविधान में संशोधन की प्रक्रिया सामान्य कानून बनाने की प्रक्रिया से भिन्न होती है।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 368 में संविधान संशोधन की प्रक्रिया दी गई है। संशोधन की यह प्रक्रिया न ब्रिटेन की तरह बहुत सरल है और न संयुक्त राज्य अमरीका की तरह बहुत कठिन है। भारत का संविधान इस दृष्टि से मध्यमार्गी है। इस तरह यह अत्यंत कठोरता और अत्यंत लचीलेपन से बचा है। संसद के किसी सदन में विधेयक लाकर ही संविधान में संशोधन की शुरुआत की जा सकती है। यदि प्रत्येक सदन की कुल सदस्य संख्या का बहुमत और उपस्थित तथा मतदान कर रहे सदस्यों में से दो-तिहाई सदस्य संशोधन विधेयक को पारित कर दें और उसके बाद उसपर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे दे, तो संविधान में उस विधेयक के अनुसार संशोधन हो जाता है। संविधान के अनेक प्रावधान जैसे मौलिक अधिकार तथा राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत इसी प्रक्रिया द्वारा संशोधित होते हैं। कुछ संशोधनों के प्रकरणों में, यह अनिवार्यता होती है कि संशोधन विधेयक की स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के सामने रखे जाने से पहले कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमंण्डल उस आशय का प्रस्ताव पारित करके संशोधन का अनुमोदन कर दें। मोटे तौर पर ऐसे प्रकरणों को

संघीय मुद्दे कह सकते हैं, जिनमें संघ तथा राज्य दोनों के हित मिले रहते हैं। ऐसे प्रावधानों के संशोधन के लिए राज्यों द्वारा अनुमोदन आवश्यक है जिनका संबंध राष्ट्रपति के निर्वाचन, उच्चतम न्यायालय के गठन तथा तीनों सूचियों में वर्णित शक्तियों के विभाजन संबंधी विषयों के साथ है।

इन दो प्रक्रियाओं के अतिरिक्त एक अन्य विधि द्वारा भी संविधान में संशोधन किया जा सकता है। इस पद्धति के अंतर्गत संसद के दोनों सदनों के साधारण बहुमत द्वारा किसी नए राज्य की रचना की जा सकती है और किसी विधानमण्डल में विधान परिषद् का सृजन अथवा उसे समाप्त किया जा सकता है।

अभ्यास

1. भारतीय संसद के गठन की व्याख्या कीजिए तथा राज्य सभा और लोक सभा की शक्तियों की तुलना कीजिए।
2. संसद के वित्तीय तथा न्यायिक कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. लोक सभा के अध्यक्ष (स्पीकर) के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
4. संविधान किस प्रकार संशोधित होता है? संशोधन प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए।
5. संसद के सदस्यों के विशेषाधिकारों का वर्णन कीजिए
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें:
   (क) राज्य सभा का सभापति
   (ख) सार्वजनिक समिति
   (ग) राज्य विधान मण्डल
   (घ) आकलन समिति

अध्याय 4

केंद्रीय तथा राज्य स्तरों पर विधायी तथा वित्तीय प्रक्रिया

संसदीय पद्धति के अंतर्गत विधायिका को विधि-निर्माण, वर्तमान सरकार के वित्तीय प्रस्तावों की स्वीकृति, मंत्रिमण्डल पर नियंत्रण तथा अन्य आनुषंगिक कार्यों का निष्पादन जैसे कार्य सौंपे जाते हैं। विधायिका के अंतर्गत दो सदन हों तो वित्तीय मामलों में उच्च सदन के अधिकार सीमित होते हैं। भारत में विधायिका इसी सिद्धांत का अनुसरण करती है।

धन विधेयक या वित्त विधेयक को छोड़कर, कोई भी अन्य विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि दोनों सदनों के बीच असहमति हो, तो राष्ट्रपति मतभेदों को दूर करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है। संयुक्त बैठकों के बारे में संविधान में विस्तृत व्यवस्था की गई है। जब कोई विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाता है तो उसे स्वीकृति के लिए राष्ट्रपति के सामने रखा जाता है। राष्ट्रपति के पास विधेयक पर अपना विशेषाधिकार प्रयुक्त करने की शक्ति होती है। स्वीकृति न देने की स्थिति में, वह विधेयक को (यदि वह धन विधेयक न हो), यथासंभव शीघ्रता के साथ, यह अनुरोध करते हुए दोनों सदनों को लौटा देता है कि विधेयक पर संसद द्वारा पुनर्विचार किया जाए। वह विधेयक के पुनर्विचार योग्य उपबंधों को निर्दिष्ट कर सकता है या विधेयक में वांछित संशोधनों के लिए सिफारिश कर सकता है। जब इस तरह विधेयक को लौटाया जाता है, तो सदन उसी के अनुसार पुनर्विचार करते हैं। ऐसे पुनर्विचार के बाद, यदि सदन पुनः संशोधनों के साथ या बिना संशोधनों के, विधेयक पारित कर देते हैं और उसे पुनः राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत करते हैं, तो वह अपनी स्वीकृति को रोक नहीं सकता। इस प्रकार राष्ट्रपति विधेयक को सदनों के पास केवल एक बार ही लौटा सकता है। राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने के बाद, विधेयक अधिनियम या कानून का रूप ग्रहण कर लेता है।

संसद और सरकार

संसद का सत्र दोनों सदनों की संयुक्त बैठक से प्रारम्भ होता है, जिसे राष्ट्रपति संबोधित करता है। प्रत्येक सदन में "प्रश्न-काल" कार्यक्रम का प्रथम विषय होता है। इस काल में सदस्य मंत्रियों से उनके विभाग से संबंधित जानकारी प्राप्त

एक संसदीय सत्र की संसदीय बहसों के बारे में अखबारों की कतरनें जमा कीजिए और पता कीजिए कि उनमें उठाए गए मुख्य मुद्दे कौन-से हैं। यह भी बताइए कि संसद के सदस्यों द्वारा कौन-से प्रश्न पूछे जाते हैं और मंत्रियों द्वारा क्या उत्तर दिए जाते हैं।

करने के लिए विभिन्न प्रश्न पूछते हैं। प्रश्न काल कार्यक्रम का सबसे अधिक लोकप्रिय विषय होता है। प्रश्न दो प्रकार के होते हैं, **तारांकित** और **अतारांकित**। तारांकित प्रश्न वे प्रश्न होते हैं जिनके उत्तर मंत्रिगण मौखिक रूप से देते हैं। जबकि *अतारांकित प्रश्नों के उत्तर लिखित* रूप में दिए जाते हैं।

कोई भी सदस्य सरकार का ध्यान लोक महत्व के अत्यावश्यक विषय की ओर आकर्षित कर सकता है। उदाहरण के लिए, देश में सूखा या बाढ़ की गंभीर स्थिति की ओर ध्यान दिलाने के लिए "ध्यानाकर्षण नोटिस" दिया जा सकता है। ध्यानाकर्षण नोटिस के विचार का जन्म हमारे ही देश में हुआ है। इस युक्ति के द्वारा सदस्य महत्वपूर्ण विषयों पर मंत्रियों से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

यदि कोई विषय इतना आवश्यक है कि विलंब नहीं किया जा सकता, तो सदस्य "काम रोको प्रस्ताव" के द्वारा उस विषय को चर्चा के लिए सदन में ला सकते हैं। यदि काम रोको प्रस्ताव स्वीकृत होता है, तो यह बात साबित होती है कि सरकार की नीतियों के प्रति सशक्त विरोध प्रकट हो रहा है। स्थगन का अर्थ है सामान्य कार्य आगे के लिए टाल देना तथा इसके अंतर्गत बहस अथवा सदन का स्थगन हो सकता है। इसी तरह के अन्य साधनों में "अविश्वास प्रस्ताव" जैसी और भी युक्तियाँ हैं जिनके द्वारा विरोधी पक्ष सरकार की नीतियों की समालोचना कर सकते हैं।

केंद्र सरकार में विधायी प्रक्रिया

वित्त विधेयक के अतिरिक्त अन्य कोई भी विधेयक किसी भी सदस्य या मंत्री द्वारा प्रस्तावित किया जा सकता है। प्रत्येक विधेयक तीन वाचनों से गुज़रता है। प्रथम वाचन में विधेयक को पुनःस्थापित करने के लिए सदन की अनुमति मांगी जाती है। द्वितीय वाचन में दो अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था में विधेयक पर सामान्य चर्चा होती है और विधेयक को विस्तृत चर्चा के लिए प्रवेश समिति को सौंप दिया जाता है या लोगों के मत जानने के लिए परिचालित किया जाता है। दूसरी अवस्था में विधेयक की अलग-अलग धाराओं पर विचार होता है। संशोधन भी प्रस्तावित होते हैं और उन पर मत लिए जाते हैं। तृतीय वाचन में अंतिम स्वीकृति के लिए विधेयक पर चर्चा होती है। सामान्य चर्चा के पश्चात् विधेयक को पारित या अस्वीकृत कर दिया जाता है। यदि विधेयक पारित हो जाता है, तो उसे दूसरे सदन में भेज दिया जाता है, जहाँ उसे इसी कार्यविधि से गुजरना होता है। दोनों सदनों द्वारा पारित होने पर विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है।

वित्तीय मामलों से संबंधित प्रक्रिया

धन विधेयकों के लिए विशेष कार्यविधि निर्धारित है। कोई विधेयक तब धन विधेयक कहलाएगा जब उसमें निम्नलिखित बातें सम्मिलित होंगी। (क) किसी कर का लगाया जाना, खत्म किया जाना, उस पर छूट देना, उस पर संशोधन करना या उसका विनियमन (ख) धन का ऋण लेने या कोई गारण्टी देने संबंधी भारत सरकार का विनियमन, (ग) भारत की संचित निधि या आकस्मिक निधि की रक्षा, (घ) संचित निधि से

धन का विनियोग (ङ) संचित निधि के खाते या सार्वजनिक लेखे के खाते में धन की प्राप्ति, (च) यहाँ पर सूचीबद्ध विषयों से संबंधित कोई मामला, आदि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं, इस प्रश्न पर लोक सभा के अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होता है।

धन विधेयक को राज्य सभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता। लोक सभा द्वारा उसके पारित होने के बाद अनुमोदन के लिए राज्य सभा के पास भेज दिया जाता है। राज्य सभा को इस विधेयक को पाने की तिथि से 14 दिनों के अंदर अपनी सिफारिश सहित लौटाना होता है। यदि वह इस अवधि के अंदर विधेयक को नहीं लौटाती तो मान लिया जाता है कि विधेयक दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पारित हो गया जिस रूप में उसे लोकसभा द्वारा पारित किया गया था। यदि राज्य सभा इस अवधि के अंदर विधेयक को अपनी सिफारिशों के साथ लोक सभा को लौटा देती है तो लोक सभा को यह प्राधिकार प्राप्त रहता है कि वह इन सिफारिशों में से किसी को स्वीकृत या अस्वीकृत कर दे। उसके बाद मान लिया जाता है कि विधेयक को संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति मिल गई है।

इस प्रकार विधेयक को पारित होकर कानून का रूप लेने की प्रक्रिया काफी लंबी है।

अब हम वित्तीय मामलों से संबंधित प्रक्रिया का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

(i) कार्यपालिका की पहल

लोकतंत्र का यह मूलभूत सिद्धांत है कि संपूर्ण कराधान और सार्वजनिक व्यय पर जनता की स्वीकृति प्राप्त की जाए। अतः कार्यपालिका जनता के प्रतिनिधियों से प्राधिकार प्राप्त करके ही कर लगाकर, ऋण लेकर या किसी अन्य प्रक्रिया द्वारा धन जुटाती है। इन मामलों में कार्यपालिका को पहल करनी चाहिए क्योंकि वह प्रशासनिक विभागों पर सीधा नियंत्रण रखती है और सही तौर पर यह जानने की स्थिति में रहती है कि राज्य की आवश्यकताओं का स्वरूप क्या है और उन्हें संतुष्ट करने के रास्ते में कौन-सी कठिनाइयाँ और रुकावटें आती हैं। अतः सभी वित्तीय प्रस्ताव सरकार आगे बढ़ाती है। विधायिक के पास यह अधिकार होता है कि वह किन विषयों पर स्वीकृति दे, किन में कटौती करे या किन्हें अस्वीकृत कर दे। विधायिका को कराधान में या व्यय में वृद्धि करने की सिफारिश देने का अधिकार नहीं प्राप्त होता। देश में लोकतांत्रिक पद्धति पर सफलतापूर्वक अमल के लिए यह एक स्वस्थ प्रतिबंध है क्योंकि इससे विधायिका के सदस्यों द्वारा आकर्षण सुझावों के माध्यम से मनमानी करने और गैर जिम्मेदारी के साथ काम करने की प्रवृत्ति पर प्रभावी ढंग से नियंत्रण बना रहता है।

(ii) बजट

राज्य के आय और व्यय के आकलन मंत्रिमण्डल द्वारा तैयार किए जाते हैं और मुख्यतः वित्तमंत्री को यह जिम्मेदारी सौंपी जाती है। इन आकलनों को प्राप्त कर वित्तमंत्री आगामी वर्ष के वास्ते बजट तैयार करता है तथा राष्ट्रपति के अनुरोध पर उसे संसद में प्रस्तुत करने के लिए कहता है। इस विवरण में केंद्र सरकार की आकलित प्राप्तियों तथा समस्त व्यय का उल्लेख होता है। व्यय के आकलन, व्यय को श्रेणीबद्ध करते हैं और इन दो प्रकार की धनराशियों को अलग-अलग दिखलाते हैं : (क) संचित निधि से खर्च किए जाने वाले खर्च को पूरा करने के लिए अपेक्षित धनराशि, तथा (ख) संचित निधि से किए जाने के लिए प्रस्तावित अन्य खर्च को पूरा करने के वास्ते अपेक्षित धनराशि।

(iii) संचित निधि के नाम डाला गया व्यय

भारत की संचित निधि के नाम डाले गए व्यय में ये खर्च सम्मिलित होते हैं : (क) राष्ट्रपति का वेतन, भत्ते और उसके पद से संबंधित अन्य खर्च, (ख) राज्य सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष और लोक सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते, (ग) ऋण भार, निक्षेप निधि भार तथा ऋण मोचन भार, (घ) उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को देय वेतन, भत्ते तथा पेंशन, (ङ) भारत के नियंत्रक महालेखा परीक्षक को देय वेतन, भत्ते तथा पेंशन (च) किसी न्यायालय के किसी निर्णय, डिगरी या पंचाट को पूरित करने के लिए अपेक्षित कोई धनराशि और (छ) संविधान द्वारा घोषित अन्य व्यय, उदाहरण के लिए सर्वोच्च न्यायालय नियंत्रक महालेखा परीक्षक के प्रशासनिक व्ययों, राज्यों को दिए गए सहायक अनुदानों, संघ लोक सेवा आयोग के व्ययों, राज्यों को दिए गए सहायक अनुदानों, संघ लोक सेवा आयोग के व्ययों आदि से संबंधित है। संसद को कानून पारित कर इस सूची में अन्य खर्च जोड़ने का अधिकार है।

भारत की संचित निधि के नाम डाले गए समस्त व्यय संसद की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत नहीं किए जाते, लेकिन व्यय की इन सब मदों पर संसद के किसी भी सदन में चर्चा की जा सकती है। इस प्रकार विधायिका को प्रत्येक वर्ष ऐसे मामलों के बारे में भी प्रशासन की समीक्षा करने का अवसर मिल जाता है जिन पर मतदान कराके विधायिका की स्वीकृति लेना आवश्यक नहीं होता। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मंत्रियों तथा अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्यों के वेतन को नियत किए जाने के मामलों पर प्रत्येक वर्ष विधानमण्डल में मतदान द्वारा स्वीकृति प्राप्त की जानी आवश्यक होती है। अतः इस प्रक्रिया द्वारा किसी विभाग के कार्य की आलोचना की जा सकती है और वेतनों में सांकेतिक रूप से नाम मात्र के लिए कटौती पर बहस करके शिकायतें दूर करवाई जा सकती हैं।

(iv) संसद द्वारा स्वीकृत खर्च

संचित निधि के नाम डाले गए खर्च के अतिरिक्त समस्त व्यय को लोक सभा के सामने अनुदानों की मांगों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस सदन के पास किसी मांग को स्वीकृत या अस्वीकृत करने या राशि में कटौती करके किसी मांग को स्वीकृत करने का अधिकार होता है। इसे खर्च में वृद्धि करने का सुझाव देने का अधिकार नहीं है। केवल राष्ट्रपति की सिफारिश के आधार पर ही अनुदान की मांग की जाती है अर्थात् वास्तविकता यह है कि सत्तारूढ़ सरकार को ही यथार्थ रूप से आवश्यकताओं के बारे में जानकारी होती है।

(v) बजट पारित होने के विभिन्न चरण

भारतीय संसद में बजट पारित होने की प्रक्रिया के निम्नलिखित चरण होते हैं :

(क) बजट की प्रस्तुति : एक निश्चित दिन आगामी वित्तीय वर्ष के बजट को संसद के दोनों सदनों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। लोक सभा में वित्त मंत्री इसे स्वयं प्रस्तुत करता है। बजट प्रस्तुत करते समय वह अपने विस्तृत और व्याख्यापरक भाषण में बजट प्रस्तावों से जुड़े महत्व-पूर्ण विषयों का स्पष्टीकरण करता है। वित्तमंत्री के भाषण की प्रतिलिपियों सहित बजट की प्रतियाँ सब सदस्यों के बीच वितरित की जाती हैं। उनका सावधानीपूर्वक अध्ययन करने के लिए सदस्यों को कुछ समय दिया जाता है। जिस दिन बजट सदन में प्रस्तुत होता है, उसी दिन उस पर चर्चा नहीं की जाती। साधारणतया बजट में तीन प्रकार की सूचना रहती है : (क) गत वर्ष की वास्तविक प्राप्तियाँ और व्यय का ब्यौरा तथा उस अवधि के दौरान वित्तीय स्थिति की समीक्षा, (ख) आगामी

वर्ष की प्राप्तियों तथा व्यय का आकलन, और (ग) आगामी वर्ष के व्यय को पूरा करने के लिए कराधान प्रस्तावें तथा अन्य पद्धतियाँ। वित्तीय वर्ष पहली अप्रैल से अगले वर्ष के 31 मार्च तक होता है।

(ख) आम चर्चा : बजट संबंधी दूसरा चरण है उसकी प्रस्तुति के बाद उसमें रखे प्रस्तावों पर आम चर्चा। इस चर्चा के लिए कुछ दिन निर्धारित कर दिए जाते हैं। चर्चा संपूर्ण बजट पर तथा उसमें रखे किसी प्रश्न, सिद्धांत या नीति पर होती है। इस चरण में न तो कोई प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है और न ही किसी मद पर मतदान लिया जाता है। इस आम चर्चा से किसी भी व्यय मद को छूट नहीं दी जाती और संचित निधि के नाम डाले गए विषय भी सांसदों की आलोचना के क्षेत्र में आ सकते हैं। वास्तव में, यह ऐसा अवसर होता है जिस बीच विभिन्न राजनीतिक दलों और विशेषतया विपक्षी दलों के सदस्य संपूर्ण प्रशासन के विरुद्ध अपनी शिकायतें व्यक्त कर सकते हैं। अपनी आलोचना के समर्थन में वे उदाहरण देते हैं कि सरकार का कोई विभाग-विशेष वास्तविक तौर पर किस तरह काम कर रहा है।

(ग) अनुदानों की मांग : आम चर्चा खत्म होने पर आकलनों को लोकसभा के सामने विशेष शीर्षों के अंतर्गत अनुदान मांगों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। मंत्रिगण अपने-अपने विभागों की अनुदान मांगें रखते हुए व्याख्या परक भाषणों में बताते हैं कि मांगों की धनराशि समुचित होने के क्या कारण हैं। उसके बाद सदस्यगण भाषण देते हैं। अंत में सदन मांगों को स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकता है या फिर मांगी गई धनराशि में कटौती कर सकता है। मांगों की अस्वीकृति या धनराशि में कटौती होने की स्थिति में संशोधन रखे जाते हैं। सदन को यह अधिकार नहीं होता कि वह मांगी गई धनराशि में किसी प्रकार की बढ़ोत्तरी करे। सदन के नेता से परामर्श करके अध्यक्ष अनुदान की मांगों पर चर्चा के लिए दिनों की संख्या निश्चित करता है, और फिर मतदान करवाता है। वास्तव में ऐसा प्रतिबंध लगाना आवश्यक भी है अन्यथा अनंत काल तक बहस चलती रहेगी और फलस्वरूप सरकार के काम में बेकार की रुकावट आएगी। इस प्रकार आबंटित दिनों की संख्या बहुत छोटी नहीं होनी चाहिए क्योंकि इससे संसद के सदस्यों को विशेष मुद्दों पर जनता की शिकायतें और विचार प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त अवसर नहीं मिलेगा। अनुदानों पर मतदान के लिए आबंटित अंतिम दिन शाम को पाँच बजे अध्यक्ष बहस खत्म कराके सभी शेष मांगों पर सदन में मतदान कराता है। सदन को स्वतंत्रता होती है कि वह उन मांगों पर स्वीकृति दे या उन्हें ठुकरा दे, लेकिन उसे अब उन पर संशोधन लाने का अवसर प्राप्त नहीं होता।

कटौती प्रस्ताव

जब किसी मंत्री द्वारा कोई मांग रखी जाती है, तो किसी भी सदस्य द्वारा उसमें कटौती का प्रस्ताव रखा जा सकता है। कटौती का प्रस्ताव संशोधन के रूप में आता है और उसके माध्यम से खर्च में कटौती लाने का इरादा दर्शाया जाता है, क्योंकि प्रस्ताव लाने वाले सदस्य की राय में कटौती करना उचित है। यदि इस प्रस्ताव को स्वीकृति मिल जाती है, तो संबंधित विभाग को खर्च के लिए उतनी ही राशि मिलती है जितनी स्वीकृत होती है। सत्तारूढ़ दल के सदस्य ऐसे प्रस्ताव में संभवत: वास्तविक रूप से कटौती नहीं होने देते, क्योंकि मंत्री उनके नेता होते हैं जिनमें उनका विश्वास होता है। अत: कटौती प्रस्ताव केवल संकेत मात्र होता है। यदि मंत्रियों और उनके दल के सांसदों में कोई गंभीर मतभेद होता है, तो वे दल की बैठकों में ही विचार-विमर्श करके उन्हें

दूर कर लेते हैं। यदि दल के कार्यकर्ता मंत्रियों पर दबाव डालते हैं, तो वे उनकी उचित बातें मान लेते हैं। इस प्रकार, जब ऐसा कोई मामला संसद में उठता है, तो स्वयं मंत्री कुछ परिवर्तन मान लेने की घोषणा कर देता है। विपक्ष के सदस्य भी मितव्ययिता लाने के उद्देश्य से कटौतियाँ प्रस्तावित करते हैं परन्तु उनके प्रस्तावों के स्वीकृत होने की कोई संभावना नहीं होती क्योंकि वे सदन में अल्पमत में होते हैं। यदि सदन का कोई सदस्य ऐसा प्रस्ताव लाता है, तो इसे मंत्रिमण्डल में अविश्वास का प्रस्ताव माना जा सकता है और इसके परिणामस्वरूप सरकार को त्यागपत्र देना पड़ सकता है। यद्यपि ऐसा होने की संभावना नहीं होती क्योंकि सत्तारूढ़ दल की एकता और अनुशासन ऐसा नहीं होने देता।

वित्तीय क्षेत्र में राज्य सभा की स्थिति

वित्तीय मामलों में राज्य सभा को लोक सभा से कम शक्तियाँ मिली हुई हैं। बजट इस सदन में भी प्रस्तुत किया जाता है और समेकित निधि के नाम डाले खर्च सहित उसकी सब मदों पर इसमें आम चर्चा भी होती है। इसके सदस्य सरकार के विभिन्न विभागों के आम कामकाज पर अपनी राय देने के लिए इस अवसर का उपयोग करते हैं। इस प्रकार इस संस्था के अनुभवी सदस्यों का परामर्श लाभकारी होता है क्योंकि अधिकतर सदस्य "बुजुर्ग" नेता होते हैं। मदों पर चर्चा के अंतर्गत न तो कोई प्रस्ताव प्रस्तुत होता है और न ही मतदान कराया जाता है। राज्य सभा को अनुदानों पर स्वीकृति देने का अधिकार भी नहीं होता। यह तो लोकसभा के सदस्यों को अनन्य विशेष अधिकार है। अतः राज्य सभा में अनुदानों की माँगें प्रस्तुत करने का प्रश्न ही नहीं होता और न ही वहां कटौती प्रस्ताव रखे जा सकते हैं। अतः वित्तीय क्षेत्र में राज्य सभा के पास कम शक्तियाँ हैं।

विनियोजन विधेयक

मंत्रियों द्वारा रखी सब मांगें जब लोक सभा स्वीकृत कर देती है तो विनियोजन विधेयक के नाम से एक विधेयक सदन में प्रस्तुत होता है। यह विधेयक निम्नलिखित व्यय को पूरित करने के लिए भारत की संचित निधि से सब धनराशियों के विनियोजन को उपलब्ध कराता है : (क) लोक सभा द्वारा स्वीकृत अनुदान और (ख) भारत की संचित निधि के नाम डाला खर्च, जो बजट में दर्शाई धनराशि से अधिक न हो। ऐसे विधेयक पर संसद के किसी सदन में ऐसा कोई संशोधन नहीं रखा जा सकता जो समेकित निधि के नाम डाले किसी खर्च की राशि या उसके प्रयोजन में परिवर्तन करना चाहे। अन्य किसी विधेयक की तरह इस विधेयक के लिए भी कानून का रूप लेने से पहले दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है।

विनियोजन अधिनियम द्वारा किए गए विनियोजन के अंतर्गत ही भारत की संचित निधि से धन निकाला जा सकता है। सदन द्वारा अनुदानों पर स्वीकृति प्राप्त हो जाने से ही संचित निधि से धन निकाल कर खर्च करने का प्राधिकार नहीं मिल जाता। इस प्रकार विनियोजन अधिनियम स्वीकृति प्राप्त खर्च तथा समेकित निधि के नाम डाले खर्च के बारे में प्राधिकार प्रदान करता है।

भारत में प्रत्येक वर्ष संसद में वित्त विधेयक प्रस्तुत किए जाने की प्रथा है जिसके अंतर्गत नए कर प्रस्ताव तथा पारित स्थायी अधिनियमों के अनुसार पहले से ही लागू कर या शुल्क दरों में परिवर्तन के प्रस्ताव सम्मिलित होते हैं। भारतीय शुल्क दर अधिनियम के अंतर्गत पहले से लागू आय-कर दरों में परिवर्तन या भारतीय डाकघर के अधिनियम के अंतर्गत पहले से लागू डाक-शुल्क दरों में परिवर्तन का उल्लेख उदाहरण के तौर पर किया जा सकता है। अन्य विधेयकों की तरह इस

विधेयक को भी इसके कानून का रूप लेने से पहले दोनों सदनों द्वारा पारित किया जाना आवश्यक है। यह बात समझ लेनी चाहिए कि विनियोजन अधिनियम में खर्च संबंधी प्रस्ताव ही सम्मिलित होते हैं, जबकि वार्षिक वित्त अधिनियम में वित्तीय वर्ष के कराधान तथा राजस्व के सभी प्रस्ताव रहते हैं।

राष्ट्रपति की सिफारिश पर ही धन विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है। ऐसा विधेयक राज्य सभा में पहले प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

पूरक बजट

ऐसा भी हो सकता है कि चालू वित्तीय वर्ष के दौरान सेवा विशेष पर खर्च किए जाने के लिए विनियोग अधिनियम द्वारा प्राधिकृत धनराशि अपर्याप्त मालूम पड़े अथवा वर्ष के दौरान पूरक या अतिरिक्त खर्च के लिए कोई ऐसी आवश्यकता उत्पन्न हो जाए जिसके बारे में बजट तैयार करके प्रस्तुत करते समय सोचा भी न गया हो। यह भी हो सकता है कि किसी सेवा पर वित्तीय वर्ष के दौरान उस धनराशि से अधिक धन खर्च हो जाए जिसके लिए उस वर्ष उस सेवा के बारे में स्वीकृति ली गई थी। ऐसी परिस्थिति में, अतिरिक्त खर्च को आकलित धनराशि दर्शाते हुए पूरक बजटों को संसद के दोनों सदनों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। इस धनराशि के पूरित किए जाने के लिए अनुदानों की मांगें लोक सभा के सामने प्रस्तुत की जाती हैं। सदन द्वारा अनुदानों पर स्वीकृति के बाद उन्हें अपने में सम्मिलित करने वाला विनियोजन विधेयक संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत किया जाता है और संसद द्वारा स्वीकृति के बाद वह विधेयक अधिनियम का रूप ले लेता है। स्वाभाविक है कि संसद के सदस्यगण पूरक बजट को अधिक उदार दृष्टि से नहीं देखते, क्योंकि इसका अभिप्राय यही होता है कि सरकार ने संसद से स्वीकृति पाने की आशा में अधिक धन खर्च कर दिया और कार्योत्तर पुष्टीकरण प्राप्त कर लिया। फिर भी, अपवादात्मक प्रकरणों में स्वीकृत राशि से अधिक खर्च करने के अधिकार से कार्यपालिका को रोका नहीं जा सकता, क्योंकि अप्रत्याशित परिस्थितियों में उसे शीघ्रतापूर्वक और कार्य कुशलतापूर्वक उन पर नियंत्रण रखना पड़ता है।

आपातकालीन खर्च

कभी-कभी, देश में आपात स्थिति लागू होने पर, सरकार को राज्य के हित में तत्काल कुछ धनराशि खर्च करनी पड़ जाती है। और उस समय उसके लिए विस्तृत आकलन तैयार करना संभव नहीं होता, क्योंकि परिस्थितियाँ कुछ ऐसी होती हैं कि उनके बारे में पूर्वानुमान लगाया भी नहीं जा सकता। इसी प्रकार, जिन सेवाओं के लिए धन खर्च किया जाता है, वे कभी-कभी अनिश्चित होती हैं और इतना बड़ा आकार ग्रहण कर लेती हैं कि बजट बनाते समय उस विषय में ऐसा सोचा ही नहीं जा सकता था। अतः आवश्यक खर्च के लिए मांगें अप्रत्याशित ढंग से ही रखी जाती हैं। ऐसे अवसर भी आ सकते हैं कि वर्ष के लिए तय सेवाओं में किसी उद्देश्य के लिए विचार ही न किया गया हो और चालू वर्ष के दौरान उस पर अत्यधिक खर्च करना पड़ा हो। अतः ऐसे विशेष उद्देश्य के लिए सदन द्वारा धन विधेयक पर अलग से स्वीकृति दी जाती है। इन सभी अपवादात्मक परिस्थितियों का सामना करने के लिए लोकसभा को आवश्यक विनियोजन अधिनियम पारित करने का अधिकार प्रदान किया गया है।

राज्य-स्तर पर विधायी कार्य विधि

धन विधेयकों तथा अन्य वित्तीय विधेयकों को छोड़कर कोई विधेयक विधानमण्डल के किसी

भी सदन में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है। धन विधेयकों संबंधी उपबंधों के तथा विधान परिषद् के अधिकारों पर सामान्य प्रतिबंधों के अधीन कोई विधेयक राज्य के विधानमण्डल द्वारा तब तक पारित नहीं माना जाएगा जब तक उस पर दोनों सदन संशोधनों के बिना या संशोधनों सहित सहमत न हो चुके हों।

विधान परिषद् को कानून बनाने की प्रक्रिया में गौण स्थान दिया गया है। धन विधेयकों तथा अन्य वित्त विधेयकों, दोनों के संदर्भ में इसके अधिकारों को सीमाबद्ध किया गया है। विधान सभा द्वारा पारित और विधान परिषद् को स्वीकृति के लिए प्रेषित किसी विधेयक में संशोधन करने का परिषद् का अधिकार अत्यंत सीमित है। जब कोई ऐसा विधेयक (क) विधान परिषद् द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है या (ख) परिषद् द्वारा ऐसे संशोधनों के साथ पारित किया जाता है जो विधान सभा को स्वीकार्य नहीं हैं या (ग) परिषद् के सामने प्रस्तुत किए जाने की तारीख से तीन माह से अधिक समय बीत चुका है और उसने उस पर स्वीकृति नहीं दी है, तो विधान सभा उस विधेयक को अपने उसी या बाद के किसी सत्र में परिषद् द्वारा सुझाए संशोधनों सहित या संशोधनों के बिना फिर से विधान परिषद् को भेज देती है। तब यदि वह विधेयक परिषद् द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है या विधान सभा द्वारा अमान्य संशोधनों सहित पारित किया जाता है या उस विधेयक के परिषद् के सामने प्रस्तुत होने की तारीखसे एक माह से अधिक समय बीत जाता है और परिषद् ने उसे स्वीकृति नहीं दी है, तो उस विधेयक को राज्य विधानमण्डल के दोनों सदनों द्वारा पारित या विधान सभा द्वारा ऐसे संशोधनों सहित (यदि ऐसी स्थिति हो), जो उसे स्वीकार हों, पारित मान लिया जाएगा।

धन विधेयकों के बारे में विधान परिषद् के अधिकार संसद के उच्च सदन अर्थात् राज्य सभा के अधिकारों के समान होते हैं। विधान परिषद् में धन विधेयक पहले नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। जब धन विधेयक विधान सभा में पारित हो जाता है तो उसे विधान परिषद् की सिफारिशों के लिए भेज दिया जाता है। यदि वह विधेयक परिषद् में उसकी प्राप्ति की तारीख से 14 दिनों की अवधि के अंदर परिषद् की सिफारिशों के साथ विधान सभा को नहीं लौटाया जाता तो उसे दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है। यदि परिषद् इस अवधि के अंदर विधेयक को अपनी सिफारिशों के साथ लौटा देती है, तो विधान सभा को यह प्राधिकार होगा कि वह किसी सिफारिश को स्वीकार करे या अस्वीकार कर दे। तब विधेयक को दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित मान लिया जाता है जिस रूप में उसे परिषद् द्वारा संस्तुति संशोधनों सहित या उनके बिना विधान सभा पारित कर दे।

राज्यपाल की भूमिका

राज्य विधानमण्डल के दोनों सदनों या विधानसभा द्वारा पारित विधेयक को राज्यपाल की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। वह विधेयक को स्वीकृत करता है या उस पर अपनी स्वीकृति को रोके रहता है या उसे राष्ट्रपति द्वारा विचार के लिए आरक्षित रखता है। यदि विधेयक धन विधेयक न हो तो राज्यपाल उसे अपनी सिफारिश के साथ विधानमण्डल को लौटा सकता है। विधानमण्डल तब बिना किसी संशोधन के या संशोधन सहित विधेयक को फिर पारित करके राज्यपाल को भेजता है। और इस बार राज्यपाल को विधेयक पर अपनी स्वीकृति देनी ही पड़ती है। जब विधेयक राष्ट्रपति द्वारा विचार के लिए आरक्षित किया जाता है, तो विधेयक के धन विधेयक न होने की स्थिति में

राष्ट्रपति राज्यपाल को सिफारिशों सहित विधेयक विधानमण्डल को लौटाने का निर्देश देता है। उसके बाद विधानमण्डल को छह माह की अवधि के अंदर विधेयक पर पुनर्विचार करना चाहिए और यदि वह संशोधन सहित या संशोधन के बिना फिर से पारित कर दिया जाता है, तो उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

राज्य स्तर पर वित्तीय प्रक्रिया

केंद्र के समान, राज्यों में वित्तीय प्रक्रिया के मुख्य तत्व ये हैं : (क) वार्षिक वित्तीय विवरण, (ख) अनुदानों के लिए मांगें, (ग) विनियोजन विधेयक, और (घ) अन्य वित्तीय विधेयक।

राज्यपाल को प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में राज्यविधानमण्डलके सदन या सदनों के सामने उस वर्ष का राज्य का बजट रखना होता है। व्यय के आकलनों को इस प्रकार दर्शाना होता है (i) राज्यों की संचित निधि के नाम डाला गया व्यय, और (ii) उस निधि में से होने वाला अन्य व्यय। राज्य की संचित निधि के नाम डाले खर्च ये हैं : (क) राज्यपाल का वेतन, भत्ते और उसके पद से संबंधित अन्य खर्च, (ख) विधानसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के और, द्विसदनीय विधानमण्डल होने की स्थिति में, विधान परिषद् के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते, (ग) ऋण परिव्यय, (घ) किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतनों और भत्तों के संबंध में खर्च, (ङ) किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के किसी निर्णय, डिगरी या पंचाट को पूरित करने के लिए अपेक्षित कोई धनराशि, और (च) संविधान या राज्य के विधानमण्डल द्वारा घोषित कोई अन्य खर्च, जो कानून के अंतर्गत किया जाना हो। राज्य की संचित निधि के नाम डाली गई धनराशियाँ ये हैं : (i) उच्च न्यायालयों के प्रशासनिक खर्चों को पूरित करने के लिए अपेक्षित धनराशियाँ, (ii) राष्ट्रपति द्वारा निर्धारण के अनुसार शासकों की राजवृत्ति (प्रिवी पर्स) में अंशदानों को पूरित करने के लिए अपेक्षित धनराशियाँ और (iii) राज्य लोक सेवा आयोग के खर्चों को पूरा करने के लिए आवश्यक धनराशियाँ। उपरोक्त मद संख्या (क) से (च) के अनुसार संचित निधि के नाम डाले खर्चों पर मतदान नहीं होता है। अर्थात् उनके लिए विधानमण्डल की स्वीकृति अनिवार्य नहीं होती। विधानमण्डल में इन पर चर्चा अवश्य की जा सकती है। अन्य खर्चों को विधान सभा के सामने अनुदानों की मांगों के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। विधान सभा मांग की इस राशि में कमी कर सकती है। राज्यपाल की सिफारिश पर ही किसी अनुदान की मांग रखी जा सकती है।

अनुदानों पर स्वीकृति के बाद विधान सभा द्वारा दिए अनुदानों को तथा संचित निधि के नाम डाले खर्च को पूरा करने के लिए संचित निधि में से विनियोजन के वास्ते व्यवस्था करने के उद्देश्य से एक विधेयक प्रस्तुत किया जाता है। इस चरण में विधानमण्डल का कोई सदन या दोनों सदन कोई ऐसा संशोधन प्रस्तावित नहीं कर सकते जो धनराशि में परिवर्तन करने या धनराशियों की मदों में परिवर्तन करने का प्रभाव रखता हो। केवल विनियोजन अधिनियम के उपबंधों के अनुसार ही संचित निधि से धन निकाला जा सकता है।

राज्यपाल के पास राज्य के विधानमण्डल के एक सदन या दोनों सदनों के सामने पूरक वित्तीय विवरण रखने तथा पूरक या अतिरिक्त या अधिशेष अनुदानों को विधान सभा के सामने प्रस्तुत करवाने का अधिकार होता है। पर इन मामलों में वही कार्य विधि लागू होगी जो वार्षिक वित्तीय विवरण या अनुदानों के वास्ते सामान्य मांगों के लिए निर्धारित की गई है।

राज्यों की विधान सभाओं को अग्रिम राशियों

और अनुदानों को तथा अपवादात्मक अनुदानों को स्वीकृत करने के अधिकार प्राप्त हैं।

अभ्यास

1. धन विधेयक से आप क्या समझते हैं? यह किस प्रकार पारित होता है?
2. बजट पारित होने के लिए जिन अवस्थाओं से गुजरता है, उनका वर्णन कीजिए।
3. कोई विधेयक कानून बनने के लिए जिन अवस्थाओं से गुजरता है, उनका वर्णन कीजिए।
4. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) अनुदान मांगें
   (ख) भारत की संचित निधि
   (ग) कटौती प्रस्ताव
   (घ) विनियोजन विधेयक

अध्याय 5

कार्यपालिका की विशिष्टताएँ

आम बोलचाल की भाषा में सरकार की कार्यपालिका को ही सरकार कह दिया जाता है। विधायिका द्वारा पारित कानूनों को अमल में लाने वाला सरकार का अंग कार्यपालिका है। कार्यपालिका शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है: व्यापक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सार्वजनिक मामलों के प्रशासन से जुड़े उच्च और निम्न स्तर के समस्त कर्मचारियों के लिए किया जाता है। कार्यपालिका के सांविधानिक अध्यक्ष तथा वास्तविक अध्यक्ष, प्रधानमंत्री, समस्त मंत्रीगण, सचिव और दूसरे सिविल कर्मचारी, इसके अंतर्गत आते हैं। पुलिस कर्मचारी और यहाँ तक कि सशस्त्र सेनाओं में काम करने वाले व्यक्ति भी इसके अंतर्गत आ जाते हैं। संकीर्ण अर्थ में यह शब्द केवल वास्तविक कार्यपालिका का बोध कराता है।

समय की दृष्टि से, सरकार के अन्य अंगों की अपेक्षा कार्यपालिका का उदय पहले हुआ। प्रारंभिक चरण में सरकार में केवल कार्यपालिका ही थी परंतु, संविधान या लोकतंत्रीय राजनीति के अस्तित्व में आने से विधायिका तथा न्यायपालिका का भी विकास हुआ और कार्यपालिका का कार्य क्षेत्र सीमित हो गया। इन दो बातों ने कार्यपालिका की सत्ता को कम कर दिया। किंतु जो कुछ बचा रहा, वह भी कार्यपालिका को सशक्त बनाने के लिए काफी है।

यदि महत्व की दृष्टि से देखें तो आज की राजनीति की दुनियां में कार्यपालिका की धुरी पर ही सरकार घूमती है। सरकार की प्रक्रिया को दो भागों में बांटा जा सकता है: एक भाग नीति निर्माण से संबंधित है और दूसरा भाग नीति के कार्यान्वयन की प्रक्रिया से जुड़ी बारीकियों से सरोकार रखता है। नीति-निर्माण राजनीतिक कार्यपालिका का मुख्य दायित्व है। राजनीतिक कार्यपालिका उन व्यक्तियों के छोटे समूह से बनती है, जो सरकार के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं। वे ही इन नीतियों के निर्माता हैं जिनसे शासन के कार्यकलापों को दिशा मिलती है। सरकार की संसदीय प्रणाली के अंतर्गत कार्यपालिका की दो प्रमुख विशेषताएँ होती हैं — राजनैतिक दलों से सह सम्बन्ध और अस्थाई कार्यपालिका। कार्यपालिका की यह विशेषताएँ ब्रिटेन और भारत जैसे देशों के बारे में स्पष्ट दिखाई देती हैं, इन देशों में राजनैतिक कार्यपालिका को मंत्रिमंडल (कैबनेट) या मंत्रि-परिषद् की संज्ञा दी

जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका जैसे कुछ दूसरे देशों में सरकार की अध्यक्षात्मक प्रणाली है। कार्यपालिका को अध्यक्षीय कार्यपालिका कहा जाता है और उसका कार्यकाल नियत होता है।

संसदीय लोकतंत्र में राज्य का अध्यक्ष सांविधानिक प्रधान होता है। इसे नाममात्र की कार्यपालिका भी कहा जाता है। ब्रिटेन में राजा नाममात्र का (सांकेतिक) कार्यपालिका प्रधान होता है और भारत में राष्ट्रपति की स्थिति भी ऐसी ही है। इस शासनप्रणाली में मंत्रिमण्डल और प्रधानमंत्री भी होते हैं जिन्हें वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है।

नीति बनाना और नीति पर अमल करना (नीति निर्माण तथा नीति-कार्यान्वियन) जटिल कार्य हैं। इसके लिए विशिष्ट तकनीकी ज्ञान और विस्तृत जानकारी की ज़रूरत रहती है। राजनीतिक कार्यपालिका में प्रशासनिक क्षमता हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। हजारों की संख्या में कार्यरत प्रशासनिक कर्मचारी ज़ानकारी और प्रशासनिक कार्य क्षमता उपलब्ध कराते हैं। इनसे मिलकर अराजनीतिक, स्थायी और पेशेवर कार्यपालिका बनती है। राजनीतिक निरपेक्षता तथा स्थायी कार्यकाल के कारण ही आशा की जाती है कि मंत्रिमण्डल या राष्ट्रपति से, जैसी भी स्थिति हो, प्रशासनिक सेवा की अलग पहचान बनी रहेगी। इस प्रकार सरकार की कार्यपालिका में राजनीतिक तथा स्थायी, दो घटक रहते हैं। मोटे तौर पर कहें तो सरकार की संसदीय प्रणाली में सांकेतिक प्रधान या अध्यक्ष और (प्रधान मंत्री सहित) उसके मंत्री तथा अध्यक्षीय सरकार में राष्ट्रीय और उसके राजनीतिक परामर्शदाताओं को मिलाकर कार्यपालिका का गठन होता है।

कार्यपालिका के प्रकार

कार्यपालिका के मुख्यतः तीन प्रकार होते हैं: (क) सांकेतिक (नाममात्र की) और वास्तविक। (ख) वंशानुगत और निर्वाचित और (ग) एकल और बहुल। आइए, इन सब पर ध्यानपूर्वक विचार करें।

(क) नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका

कार्यपालिका, ब्रिटिश सम्राट की भांति, नाममात्र की अथवा सांविधानिक शासक अथवा औपचारिक शासक हो सकती है। राज्य के प्रमुख के रूप में नाममात्र की कार्यपालिका राष्ट्रीय एकता की प्रतीक होती है, यद्यपि उसके पास वास्तविक शक्तियाँ नहीं होतीं। वास्तविक शक्ति मंत्रिमण्डल के पास होती है। उदाहरण के लिए, भारत में, भारत का राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका है जबकि प्रधानमंत्री और उसका मंत्रिमण्डल वास्तविक कार्यपालिका है। नाममात्र और वास्तविक कार्यपालिका के मध्य यह अंतर संसदीय शासन प्रणाली में ही पाया जाता है। किन्तु अध्यक्षीय शासन प्रणाली में यह भेद नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति, अमरीकी संविधान निर्माताओं की इच्छा के अनुसार वास्तविक अध्यक्ष है तथा व्यापक शक्तियों का उपभोग करता है।

(ख) वंशानुगत तथा निर्वाचित कार्यपालिका

जब जनता कार्यपालिका को प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करती है, तब उसे निर्वाचन कार्यपालिका कहते हैं। आज वंशानुगत कार्यपालिका को लोकतंत्रीय सरकार की भावना के अनुकूल नहीं समझा जाता तथापि, ब्रिटेन में वंशानुगत राजतंत्र को राजनीतिक प्रणाली के अभिन्न अंग के तौर पर रखा गया है। पर जैसा पहले ही कहा जा चुका है, राजा कार्यपालिका का वास्तविक अध्यक्ष होने के बजाए नाममात्र का अध्यक्ष होता है। सच तो यह है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यूरोप से स्वेच्छाचारी राजाओं का

सफाया हो गया परन्तु नेपाल जैसे विश्व के कुछेक देशों में आज भी राजा के पास वास्तविक अधिकार हैं।

निर्वाचित कार्यपालिका को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है : प्रत्यक्ष (यानी सीधे जनता द्वारा) निर्वाचित, मध्यवर्ती निर्वाचकों के निकाय (निर्वाचक मण्डल) द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित, विधायिका द्वारा निर्वाचित।

संयुक्त राज्य अमरीका में कार्यपालिका को सीधे जनता द्वारा चुने जाने की प्रथा है। वहाँ राष्ट्रपति सीधे जनता द्वारा चुना जाता है, यद्यपि संविधान में निर्वाचकों के मध्यवर्ती निकाय द्वारा चुनाव की व्यवस्था की गई है। सीधे जनता द्वारा निर्वाचन के दो लाभ बताए जाते हैं। इससे आम जनता में सार्वजनिक मामलों के बारे में रुचि जाग्रत होती है। इससे यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि चुनाव द्वारा ऐसा व्यक्ति मुख्य कार्यपालिका के रूप में काम करे जिसकी योग्यता और ईमानदारी के बारे में जनता को विश्वास हो। पर इस प्रणाली में कई दोष भी हैं। पहला, यदि निर्वाचन का क्षेत्र बहुत बड़ा होता है तो नागरिकों के लिए उम्मीदवार के संबंध में बहुत अच्छी जानकारी रखना असंभव होता है। दूसरा, चुनाव प्रणाली में हेराफेरी और भ्रष्टाचार पनपता है, इस कारण ठीक चुनाव से पहले सरकार की सारी मशीनरी तितर-बितर हो सकती है। तीसरा, यह दलीय भावनाएँ उभारती है। चौथा, इससे कभी-कभी विदेशी शक्तियों की कुटिलताओं और हस्तक्षेप के लिए रास्ता साफ हो जाता है। अंत में, इस प्रणाली में इस खतरे की संभावना भी है कि ऐसा चुनाव लोगों को बरगलाने और उनकी घटिया भावनाओं को भड़काने से बहुत कुछ पूर्वाग्रहग्रस्त हो जाता है। ऐसा चुनाव सदा उम्मीदवारों की योग्यताओं के बुद्धिमत्तापूर्ण मूल्यांकन से संचालित नहीं होता क्योंकि लोग उम्मीदवारों के बारे में बेखबर रहते हैं।

कुछ देशों में विधायिका में बहुमत के आधार पर कार्यपालिका का निर्वाचन होता है। इस प्रणाली की विशेषता यह है कि विधानमण्डल के सदस्य संभवतः आम जनता की तुलना में बुद्धिमत्तापूर्ण दृष्टिकोण रखेंगे और कार्यपालिका तथा विधायिका में निकट का संबंध बना रहेगा। संसदीय शासनप्रणाली में मंत्रिमण्डल विधायिका की पसंद का ही होता है। नाममात्र की कार्यपालिका केवल औपचारिक रूप से ही अपने मंत्रिमण्डल को गठित करती है। व्यावहारिक दृष्टि में यह चयन विधायिका की स्पष्ट इच्छा का द्योतक है।

चुनाव की अप्रत्यक्ष पद्धति की खास कमी यह है कि यह शक्ति-पार्थक्य के सिद्धांत का उल्लंघन करती है। इस प्रकार यह कार्यपालिका को विधायिका के उपांग का दरजा दे देती है परंतु, जैसा पहले कह चुके हैं, इस पद्धति में कई खूबियाँ भी हैं। उदाहरणार्थ, यह कार्यपालिका तथा विधायिका के बीच साहचर्य सुनिश्चित करती है जो सरकार के कुशल संचालन के लिए आवश्यक है। साथ ही, इस पद्धति से एक प्रबुद्ध और सक्षम विधायिका कार्यपालिका का चुनाव सोच-विचार कर करती है।

(ग) एकल तथा बहुल कार्यपालिका

यदि कार्यपालिका का प्राधिकार एक व्यक्ति या सामूहिक रूप से कार्य करने वाले व्यक्तियों के निकाय में निहित होता है तो वह एकल कार्यपालिका कहलाती है, जैसे संयुक्त राज्य अमरीका की कार्यपालिका। दूसरी ओर, यदि कार्यपालिका के प्राधिकार समान और समकक्ष अधिकार रखने वाले कई व्यक्तियों में निहित हों तो उसे बहुल कार्यपालिका कहा जाता है, जैसी स्थिति हमें स्विट्ज़रलैंड और सोवियत संघ में

देखने को मिलती है। स्विट्ज़रलैंड में कार्यपालिका के सभी सदस्य समान होते हैं, यहाँ तक कि राज्य के अध्यक्ष का चयन क्रमावर्तन द्वारा (सदस्यों में से बारी-बारी से) होता है। अध्यक्षीय संसदीय कार्यपालिका की विशेषता शक्ति का केन्द्रीकरण है, जिससे अधिकारों के दुरुपयोग को प्रोत्साहन मिल सकता है। बहुल कार्यपालिका बेहतर निर्णय ले सकती है क्योंकि व्यक्तियों के एक समूह में एक ही व्यक्ति की अपेक्षा, अधिक ज्ञान और समझ होने की संभावना होती है। संयुक्त राज्य अमरीका की तरह एकल कार्यपालिका में तुरंत निर्णय होने और डट कर कदम उठाने की योग्यता तो होती है, परंतु, इस पद्धति को दोषमुक्त नहीं माना जा सकता। समीक्षकों ने तर्क दिया है कि यह पद्धति सत्ता के केंद्रीकरण की ओर ले जाती है, प्राधिकारों के दुरुपयोग की ओर प्रवृत्त करती है और अधीनस्थों द्वारा कार्यपालिका प्रधान की चाटुकारिता को बढ़ावा देती है।

जब तक प्रधानमंत्री समान व्यक्ति में प्रथम की भावना को बरतता है, मंत्रिमण्डल प्रणाली ही कार्यपालिका की सबसे अच्छी प्रकार लगती है। चूँकि यह एक व्यक्ति की अचूकता पर आधारित नहीं होती, इसलिए कार्यपालिका के रूप में निर्णय लेने में इसमें न्यूनतम गलतियों की संभावना होती है। मंत्रिमण्डल प्रणाली इसलिए भी बेहतर है कि यह सामूहिक दायित्व और राजनीतिक एकरूपता के सिद्धान्त पर टिकी है जिससे सामूहिक सोच के विकसित होने की आशा की जाती है।

कार्यपालिका के अधिकार

यह साफ-साफ दिखाई पड़ता है कि वर्तमान शताब्दी में कार्यपालिका की शक्तियों में जबर्दस्त वृद्धि हुई है। अपने प्रभाव तथा विस्तार दोनों में कार्यपालिका की शक्तियाँ इस प्रकार होती हैं : (1) कार्यपालिका, (2) विधायी और (3) न्यायिक। आइए, अब इन अधिकारों या शक्तियों पर विस्तार से विचार करें।

(1) कार्यपालक अधिकार

जहाँ तक कार्यपालक शक्तियों का संबंध है, ये सभी राज्यों में कानूनों को दिशा देने और उनके कार्यान्वयन से संबंधित हैं। प्रशासन के क्षेत्र के अंतर्गत विधायिका द्वारा छोड़े गए मामलों के संबंध में उप-नियमों या अध्यादेशों को जारी करने का अधिकार भी आता है। जहाँ तक विधायी शक्ति की बात है, यह विधेयकों के प्रारूप बनाने और उन्हें कानूनों का रूप देने की प्रक्रिया को निर्देशित करने से संबंधित होती है। इसमें वित्तीय तथा अन्य विधेयक सम्मिलित होते हैं। न्यायिक अधिकार अपराधियों को क्षमादान करने, फांसी रोकने आदि से संबंधित होते हैं।

कार्यपालक अधिकारों को आगे तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

(क) राजनयिक (ख़) प्रशासनिक, और (ग) सैनिक।

कार्यपालिका के राजनयिक अधिकार विदेशी मामलों के संचालन से संबंधित होते हैं। विशुद्ध सैद्धांतिक दृष्टि से, राजनयिक या संधि करने का अधिकार न तो एकदम कार्यपालक है और न विधायी। लेकिन यह अधिकार कार्यपालिका की पहल के अधिकार से जुड़ा होता है और इसलिए माना जाता है कि यह विधायिका की अपेक्षा कार्यपालिका का अधिकार है। साथ ही, सभी राज्यों में कार्यपालिका ही राजनयिक प्रतिनिधियों को नियुक्त करती है और दूसरे देशों से अपने यहाँ आने वाले ऐसे प्रतिनिधियों का स्वागत करती है। इससे इस क्षेत्र में कार्यपालिका की पहल के अधिकार की बात और भी पुष्ट होती है।

जहाँ तक कार्यपालिका के प्रशासनिक अधिकारों की बात है, वे कानूनों के कार्यान्वयन तथा सरकार के प्रशासन से संबंधित होते हैं। ये मुख्यतः उन सब मामलों को अपने में समेटते हैं, जिनमें सरकार को प्रशासन से सीधे व्यवहार करना होता है। इस प्रकार कार्यपालिका का प्रधान अपने सब अधीनस्थों को नियुक्त कर सकता है, उन पर नियंत्रण रख सकता है और उनको पदच्युत कर सकता है। आंतरिक प्रशासन के क्षेत्र में, कार्यपालिका का काम कानूनों के कार्यान्वयन को निर्देशित करना है। इसके लिए विभागीय संगठनों की ज़रूरत होती है। साथ ही नियुक्त करने और पदच्युत करने के अधिकार द्वारा विभागों के प्रशासनिक अध्यक्षों पर और प्रशासनिक कार्य के समस्त प्रवाह पर नियंत्रण की भी आवश्यकता होती है। प्रत्येक देश में राजनीतिक कार्यपालिका का कार्य अंतर्विभागीय कार्यकलापों का समन्वयन है।

कार्यपालिका को, आम तौर पर, सलाहकार नियुक्त करने या मंत्री पदों तथा सरकार के प्रशासनिक अध्यक्ष के पद के लिए व्यक्तियों के नाम सुझाने का काम सौंपा जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका में राष्ट्रपति सचिवों (मंत्रियों) की नियुक्ति करता है और सीनेट द्वारा उनका पुष्टीकरण किया जाता है। संसदीय लोकतंत्र में ब्रिटेन के राजा या भारत के राष्ट्रपति जैसी सांकेतिक या नाममात्र की कार्यपालिका; औपचारिक रूप से राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर लोगों की नियुक्ति करती है। इस प्रणाली में वास्तव में मंत्रिमण्डल नियुक्ति करता है और सांकेतिक कार्यपालिका केवल पुष्टि करती है। कार्यपालिका के पास न केवल नियुक्त करने बल्कि कुछ प्रकरणों में सेवा समाप्त करने की भी शक्ति होती है। ऐसा इसलिए है कि कार्यपालिका को प्रशासनिक कार्य को निर्देशित करने या उसकी देखरेख करने की जिम्मेदारी भी सौंपी गई है।

जहाँ तक सैनिक या रक्षा विभाग के कर्मचारियों से संबंधित अधिकारों का संबंध है, ये अधिकार मूलतः सशस्त्र बलों के संगठन और युद्ध के संचालन से जुड़े हैं। राज्य की मुख्य कार्यपालिका आमतौर से सशस्त्र बलों का सर्वोच्च कमांडर (सेनापति) होती है। इस हैसियत से वह सैनिक अधिकारियों को नियुक्त करती है या उनकी सेवाएँ समाप्त करती है और रक्षा संबंधी नियोजन कार्य को निर्देशित करती है। पर रक्षा संबंधी अधिकार सामान्यतः कानून से विनियमित होते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका में युद्ध की घोषणा विधायिका का अधिकार है। पर संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति जबर्दस्ती स्वयं निर्णय देकर राष्ट्र के लिए संकट की स्थिति खड़ी कर सकता है। इस प्रकार वह विधायिका को युद्ध घोषित करने और कार्यपालिका के निर्णय के अनुसार चलने को बाध्य कर सकता है। भारत और ब्रिटेन जैसे देशों में युद्ध की घोषणा करना कार्यपालिका का अधिकार है। तथापि इसके लिए संसद की स्वीकृति आवश्यक है क्योंकि केवल संसद युद्ध को चलाने के लिए धन राशि की स्वीकृति देने के लिए सक्षम है। इस बात पर लगभग मतैक्य है कि सैनिक अधिकार कार्यपालिका में निहित होने चाहिएं। युद्ध की अवधि के दौरान कार्यपालक अधिकार बहुत बढ़ जाता है और इसका नियंत्रण लगभग सर्वसत्तात्मक या स्वेच्छाचारितापूर्ण होकर मानव जीवन के हर पहलू पर हावी हो जाता है। परंतु, राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में लोग अस्थायी तौर पर लोकतांत्रिक अधिकारों से वंचित होने के लिए मंजूरी दे देते हैं।

(2) विधायी अधिकार

दृढ़ अनुशासित राष्ट्रीय राजनीतिक दलों का

उदय विधायिका के क्षेत्र में बढ़ते कार्यपालक नेतृत्व की ओर ले गया है। बहुमत प्राप्त दल द्वारा समर्पित कार्यपालिका विधायी कार्य के लिए प्रेरणा तथा पहल प्रदान करती है। कार्यपालिका पहल करके अपने क्षेत्र के अंतर्गत आने वाले सभी विषयों पर कानून प्रस्तावित करती है और उन पर मंजूरी के लिए जोर देती है। विधि निर्माण के क्षेत्र में कार्यपालिका का आधिपत्य इतना अधिक हो जाता है कि यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि कार्यपालिका ही कानून बना लेती है और उस पर विधायिका की मंजूरी प्राप्त करती है। यहाँ तक कि यह मंजूरी इस माने मैं औपचारिकता होती है कि एक बार बहुमत में आकर कार्यपालिका आसानी से विधायी स्वीकृति प्राप्त कर लेती है। साथ ही, कार्यपालिका की आहूत करने (बुलाने), स्थगन करने और भंग करने की शक्ति, यह सुनिश्चित कर देती है कि विधायिका पर कार्यपालिका का प्रभावी नियंत्रण बना रहे। गैर संसदीय प्रणाली के अंतर्गत कार्यपालिका तथा विधायी शाखाओं के बीच सरकार का आंगिक संबंध न होने के कारण कार्यपालिका विधायिका को सीधे तौर पर नेतृत्व प्रदान करने में सक्षम नहीं होती। वहाँ भी कुछ सांविधानिक युक्तियाँ रहती हैं जिनके माध्यम से कार्यपालिका विधिनिर्माण को प्रभावित कर सकती है। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वह उन कानूनों को बनवाने के लिए ठोस सिफारिशों सहित कांग्रेस (अमरीकी संसद) को अपने संदेश भेज सकता है जिन्हें वह राष्ट्र के हित में आवश्यक समझता है। सामान्यतः कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति के संदेशों पर अनुकूल रुख रख कर विचार किया जाता है क्योंकि सरकार की कार्यपालक तथा विधायी शाखाओं को जोड़ने वाली राष्ट्रीय पार्टियों के अस्तित्व में आने से राष्ट्रपति का प्रभाव कांग्रेस तक विस्तार पा लेता है। साथ ही, कई देशों में (जैसे संयुक्त राज्य अमरीका और भारत में) कार्यपालिका का अध्यक्ष निषेधाधिकार (वीटो) द्वारा विधायिका के कार्यों को फलीभूत कर सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका में राष्ट्रपति अपने निषेधाधिकार का प्रयोग तो कर सकता है लेकिन कांग्रेस के प्रत्येक सदन में इसको दो-तिहाई मत से निष्क्रिय किया जा सकता है। भारत का राष्ट्रपति, धन विधेयक को छोड़कर, संसद द्वारा पारित किसी विधेयक पर अपनी स्वीकृति रोक सकता है या उसे पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। इससे जल्दबाजी में और बिना अच्छी तरह विचार किए पारित कानूनों के बनने पर रोक लगती है। आजकल लगभग प्रत्येक विधानमंडल पर काम का बड़ा बोझ रहता है और इसलिए ऐसे कानून बन जाते हैं।

आज-लगभग प्रत्येक आधुनिक राज्य में विधायिका पर काम का दबाव पड़ने और उसके पास विधिनिर्माण की बारीकियों पर ध्यान देने का समय न रहने से वह नियम तथा विनियम बनाने और कानून में दरारें भरने के काम के प्राधिकार का स्वयं उपयोग न करके उसे कार्यपालिका को सौंप देती है।

(3) न्यायिक अधिकार

लगभग प्रत्येक राज्य में किसी व्यक्ति को न्यायालयों द्वारा दी गई किसी सजा या दण्ड को क्षमा करने या कम करने या रद्द करने का अधिकार कार्यपालिका के प्रधान में निहित है। उदाहरण के तौर पर, भारत के राष्ट्रपति को क्षमादान का अधिकार दिया गया है।

कार्यपालिका के प्राधिकार का विस्तार

इसके साथ ही, कार्यपालिका का प्राधिकार भी अन्य दिशाओं में फैल चुका है। आधुनिक समाजों में विभिन्न आर्थिक कार्यकलाप निरंतर नियोजन

तथा समन्वयन की मांग करते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्यपालिका ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तक अपने नियंत्रण का विस्तार कर लिया है। साथ ही, कल्याणकारी राज्य के कार्यक्रम को पूरा करने की दृष्टि से कार्यपालिका को परियोजनाओं को हाथ में लेकर उनका इंतजाम करना होता है। इस प्रकार आधुनिक कार्यपालिका के पास शक्तियों तथा कार्यों की लंबी सूची रहती है। वास्तव में, आज सरकार को प्रेरित करने वाली यह मुख्य संस्था होती है। विधायी निकाय और कभी-कभी न्यायपालिका के स्थान पर कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होना बीसवीं शताब्दी की राजनीति का मुख्य लक्षण है।

इस प्रकार आर्थिक विकास, सामाजिक सुरक्षा और कल्याण की आवश्यकताओं और रक्षा के दबाव की मांगें कार्यपालिका के अधिकार बढ़ाते हैं। सड़कें, पुल और रेल लाइनें बनाना, संचार का विकास, स्कूल, संग्रहालय तथा अनुसंधान संस्थानों जैसी संस्थाओं की व्यवस्था वृद्ध व्यक्तियों के लिए घर की व्यवस्था जैसे काम अब राज्य द्वारा किए जाते हैं। परिणामतः ये सब काम कार्यपालिका के क्षेत्र में आ जाते हैं, क्योंकि इनसे अत्यधिक तकनीकी स्वरूप वाले विशेष रूप से आर्थिक मुद्दे जुड़े होते हैं।

विधायिका पर काम का बहुत ज्यादा बोझ होता है। कानून बनाने में पहल सरकार को करनी होती है। सरकार द्वारा पसंद नहीं किए गए कानूनों के पारित होने का अवसर बहुत कम रहता है। वास्तव में, सरकार द्वारा प्रत्येक सत्र में प्रस्तुत किए गए ढेर सारे कानूनों के लिए विधायिका को प्राप्त समय पर्याप्त नहीं होता है। अतः जैसा पहले भी कहा जा चुका है, सरकारी विभागों को नियम और विनियम जारी करने का अधिकार मिल जाता है और ये सब नागरिकों पर लागू हो जाते हैं।

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि का अन्य कारण यह है कि विधानमण्डल के कार्यकलापों पर सख्त दलीय अनुशासन बढ़ता जा रहा है। यदि राजनीतिक दलों की प्रणाली के माध्यम से सरकार को कुशलतापूर्वक चलाया जाना होता है तो दलों के नेताओं को अपने अनुयायियों के मतों पर निर्भर रहने में समर्थ होना चाहिए। बहुमत वाले दल या सांझे (मिले-जुले) दल के नेतागण सरकार बनाते हैं। आमतौर पर वे ऐसे कदम उठाते हैं जिन्हें वे विधानमण्डल से प्राप्त बहुमत के आधार पर उचित ठहरा सकें।

कार्यपालिका के अधिकारों में वृद्धि की प्रवृत्ति, न केवल संसदीय सरकारों में बल्कि अध्यक्षीय सरकारों में भी देखी जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी में कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के बीच संबंध का रूप समन्वित होता था और इस प्रकार एक दूसरे के बीच संतुलन बना रहता था। बीसवीं सदी में इनका स्वरूप वैसा नहीं रह गया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, युद्ध के समय कार्यपालिका के अधिकार अधिक बढ़ जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि शत्रु से जूझते वक्त रणनीति और उसकी कार्य-योजना कार्यपालिका और सैनिक नेताओं के हाथ में रहती है।

कुछ लोगों को भय होने लगा कि इस तरह से कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्ति, अंत में व्यवस्था के संचालन के लिए खतरा बन सकती है। लगभग प्रत्येक लोकतंत्रीय देश में वैकल्पिक राजनीतिक दल, सर्वाधिक चुनाव, चौकन्ने प्रेस और भरोसेमंद न्यायपालिका तथा गैर सरकारी संस्थाएँ कार्यपालिका के नेताओं के निरंकुश और स्वेच्छाचारी बनने पर अंकुश लगाती हैं।

निम्नलिखित देशों के राज्याध्यक्षों के पदों के नाम बताइए। (उदाहरण के लिए भारत के राज्याध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाता है)

(क) ग्रेट ब्रिटेन
(ख) नेपाल
(ग) पाकिस्तान
(घ) बांग्लादेश

अभ्यास

1. कार्यपालिका के अध्यक्ष के प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण और एक दोष बताइए।
2. कार्यपालिका के विधायी तथा न्यायिक कार्यों की चर्चा कीजिए।
3. कार्यपालिका की सत्ता के विस्तार के लिए उत्तरदायी दो मुख्य कारकों की चर्चा कीजिए।
4. निम्नलिखित में भेद स्पष्ट कीजिए।
   (क) एकल तथा बहुल कार्यपालिका,
   (ख) नाममात्र तथा वास्तविक कार्यपालिका,
   (ग) वंशानुगत तथा निर्वाचित कार्यपालिका।

अध्याय 6

भारत में कार्यपालिका

भारत की कार्यपालिका के दो स्तर हैं : केंद्रीय स्तर और राज्य स्तर। इस अध्याय में हम इन दोनों स्तरों पर कार्यपालिका का अध्ययन करेंगे। केंद्रीय कार्यपालिका में राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और मंत्रि-परिषद् रहती है तथा मंत्रिपरिषद् का प्रमुख, प्रधानमंत्री राष्ट्रपति की सहायता करता है और उसे परामर्श देता है।

केंद्रीय कार्यपालिका

राष्ट्रपति

भारतीय गणतंत्र का कार्यपालक प्रमुख राष्ट्रपति है। सशस्त्र बलों के सर्वोच्च सेनापतित्व सहित केंद्र सरकार की समस्त कार्यपालक शक्तियाँ औपचारिक रूप से उसमें निहित हैं। उसी के नाम पर सारे कार्यपालक कार्य किए जाते हैं। राष्ट्रपति में निहित कार्यपालक अधिकार संसद के प्रति उत्तरदायी मंत्रिपरिषद् की सलाह पर इस्तेमाल किए जाते हैं। संविधान के 42वें संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह मानने को बाध्य है।

योग्यताएँ

राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के लिए किसी व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए :

1. भारत की नागरिकता
2. न्यूनतम आयु-35 वर्ष
3. लोकसभा का सदस्य चुने जाने की योग्यता,
4. भारत सरकार, किसी राज्य की सरकार या इन सरकारों में से किसी के नियंत्रणाधीन किसी स्थानीय स्वायत्त प्राधिकरण के अंतर्गत उसका किसी लाभकारी पद पर न होना।

निर्वाचन की रीति

जहाँ तक हो सके राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व के मापमान में एकरूपता होगी। राज्यों में आपस में ऐसी एकरूपता तथा समस्त राज्यों और संघ में समतुल्यता सुनिश्चित की जाएगी। इस उद्देश्य से संसद और प्रत्येक राज्य की विधान सभा का प्रत्येक निर्वाचित सदस्य ऐसे निर्वाचन में जितने

मत देने का हकदार है, उनकी संख्या निम्नांकित रीति से निर्धारित की जाएगी,

विधायक के मतों की संख्या : किसी राज्य की विधायिका के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होंगे जितने कि एक हजार के गुणित उस भागफल में हों, जो राज्य की जनसंख्या को उस विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग देने पर आए।

(क) राज्य की कुल जनसंख्या राज्य की विधायिका के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या ÷ 1000.। इस प्रकार राज्यों की विधायिका के सदस्यों के मतों की संख्या विभिन्न राज्यों में अलग-अलग होती है।

डा. राजेन्द्र प्रसाद (1884-1958 ईसवी)
एक महान राष्ट्रवादी। चंपारन आंदोलन के नेता। संविधान सभा के अध्यक्ष। भारत के प्रथम निर्वाचित राष्ट्रपति। प्रसिद्ध पुस्तकें: "इंडिया डिवाइडेड" (India Divided), "सत्याग्रह इन चंपारन" (Satyagraha in Champaran), "लेगेसी ऑफ गांधी जी" Legacy of Gandhiji) "चंपारन में गांधी"।

(ख) यदि एक हजार के उक्त गुणितों को लेने के बाद शेष पांच सौ से कम नहीं हैं तो प्रत्येक सदस्य के मतों में एक और जोड़ दिया जाता है।

(ग) संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वह होगी जो राज्यों की विधायिकाओं के सदस्यों के लिए नियत मत संख्या को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या द्वारा विभाजित करके प्राप्त की जाती है। आधे से अधिक भिन्न को एक मान लिया जाता है और अन्य की उपेक्षा कर दी जाती है।

सांसद के मतों की संख्या : राज्यों के समस्त निर्वाचित विधायकों के मतों की कुल संख्या ÷ संसद के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या।

राष्ट्रपति का चुनाव एकल संक्रमणीय मत के आधार पर होता है। मतदान गुप्त रीति से किया जाता है। प्रत्येक मतदाता को एक मत देने का अधिकार होता है, परंतु वह राष्ट्रपति पद के प्रत्याशियों के लिए अपनी पसंद का क्रम प्रकट कर सकता है। मतदान के पश्चात मतों की गिनती की जाती है। चुनाव में विजयी होने के लिए प्रत्याशी को एक निश्चित संख्या में मत (कोटा) प्राप्त करने आवश्यक होते हैं। उसे डाले गए समस्त मतों के कम से कम आधे से एक अधिक मत प्राप्त करना चाहिए।उदाहरणत: यदि डाले गए समस्त मतों की संख्या 50,000 है तो कोटा

$$\text{कोटा} \quad \frac{50,000}{1+1=2} + 1 = 25,001$$

सर्वप्रथम, प्रत्येक प्रत्याशी के पहली पसंद के मतों की गिनती की जाती है। जिस प्रत्याशी को पहली पसंद में सबसे कम मत मिले हों उसे निर्वाचन से बाहर कर दिया जाता तथा उसके मतपत्रों पर द्वितीय पसंद के मत अन्य प्रत्याशियों में हस्तांतरित कर दिए जाते हैं। चुनाव से बाहर करने तथा उनके मतपत्रों के तीसरी और चौथी पसंद के मतों के हस्तांतरण की यह प्रक्रिया तब

तक चलती रहती है जब तक कोई एक प्रत्याशी मतों की निर्धारित संख्या प्राप्त न कर ले।

अधिकार तथा शक्तियाँ : भारत के राष्ट्रपति को कई कार्य निष्पादित करने होते हैं। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण कार्यों की हम यहाँ चर्चा करेंगे। राष्ट्रपति की शक्तियाँ दो प्रकार की परिस्थितियों से संबंधित होती हैं — सामान्य कालीन एवं आपात कालीन। यहाँ हम पहले सामान्य काल में राष्ट्रपति की शक्तियों की चर्चा करेंगे।

कार्यपालिका शक्तियाँ

राष्ट्रपति राज्य की कार्यपालिका का अध्यक्ष है। वह संविधान के अनुसार स्वयं प्रत्यक्षतः या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से कार्यपालक अधिकार का प्रयोग करता है। राष्ट्रपति की सहायता के और उसे सलाह देने के लिए प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिपरिषद् होती है। राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है जो आम तौर पर लोकसभा का नेता होता है और उसकी सलाह पर वह अन्य मंत्रियों का चयन करके, उनके बीच विभागों को बाँटता है। जैसा पहले कह चुके हैं, उसमें भारत के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश निहित है और इसे युद्ध तथा शांति की घोषणा करने का अधिकार प्राप्त है। राष्ट्रपति सब महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ करता है वह प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है और उसकी सलाह पर केंद्र सरकार के अन्य मंत्रियों की नियुक्तियाँ करता है। वह राज्यों के राज्यपालों, राजदूतों तथा अन्य राजनयिक प्रतिनिधियों, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों और अन्य न्यायाधीशों, महान्यायवादी, महालेखा परीक्षक और नियंत्रक, संघ लोक सेवा आयोग आदि जैसे विभिन्न आयोगों के सदस्यों की भी नियुक्तियाँ करता है। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त उप राज्यपाल या मुख्य आयुक्त उसकी ओर से संघ राज्य क्षेत्रों (केंद्र शासित भूभागों) का प्रशासन चलाते हैं। दूसरे शब्दों में उसी के नाम पर देश का शासन चलता है। संसद की स्वीकृति से उच्च पदाधिकारियों की सेवाएँ समाप्त करने का अधिकार भी राष्ट्रपति को प्राप्त है। राष्ट्रपति ने संविधान के अंतर्गत 1961 में भारत सरकार (कार्य का आवंटन) नियमावली बनाई। भारत सरकार के कार्य को इस नियमावली में विनिर्दिष्ट व्यवस्था के अनुसार मंत्रालयों, विभागों, सचिवालय तथा अन्य कार्यालयों में किया जाता है। कार्य का आवंटन राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर मंत्रियों के बीच करता है तथा मंत्रियों को एक या अधिक विभाग सौंप सकता है।

(ii) विधायी शक्ति

भारत का राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। वह संसद के दोनों सदनों में कुछ सदस्यों को मनोनीत करता है। संसद के प्रत्येक सदन को बुलाता है और सदन का सत्रावसान करता है। आवश्यक होने पर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाता है और लोकसभा को भंग कर सकता है। वह प्रत्येक आम चुनाव के बाद संसद के पहले सत्र का उद्घाटन करता है। वह संसद के प्रत्येक सदन के लिए संदेश भी भेज सकता है। उसकी सहमति के बिना कोई विधेयक अधिनियम नहीं बन सकता। जब कोई विधेयक दोनों सदनों से पारित हो जाता है तो उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। वह अपनी स्वीकृति दे सकता है या विधेयक को पुनर्विचार के लिए संसद को वापस कर सकता है। पर अगर वह विधेयक फिर से उसी रूप में अथवा संशोधित रूप में पारित हो जाता है तो उसे स्वीकृति देनी पड़ती है। धन संबंधी विधेयक, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति या संस्तुति के बिना संसद में प्रस्तुत नहीं किए जा सकते और राष्ट्रपति उन पर विशेषाधिकार का

प्रयोग नहीं कर सकता। जब कोई विधेयक राज्य के विधानमण्डल से पारित हो जाता है और स्वीकृति के लिये राज्यपाल को भेजा जाता है तो वह उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर सकता है।. राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे सकता है या नहीं दे सकता है या विधेयक को पुनर्विचार के लिए राज्य सरकार को लौटा सकता है। परंतु यदि विधेयक उसी रूप में राज्य के विधानमण्डल द्वारा फिर से पारित हो जाता है और यदि राष्ट्रपति उस पर अपनी मंजूरी नहीं देता तो उस विधेयक का वहीं पर अंत हो जाता है। राष्ट्रपति संसद के सत्र के न चलते समय कभी भी अध्यादेश जारी कर सकता है लेकिन संसद की बैठक शुरू होने की तारीख से छह सप्ताह के अंदर ऐसे अध्यादेश का संसद द्वारा अनुमोदन हो जाना चाहिए।

(iii) वित्तीय शक्तियाँ

वह संसद के सामने वार्षिक बजट और महत्वपूर्ण रिपोर्ट रखने की मंजूरी देता है और जैसा पहले कहा जा चुका है, संसद में धन विधेयक रखने की सिफारिश करता है। वह संघ और राज्यों के बीच करों से होने वाली आय के बँटवारे के लिए वित्त आयोग नियुक्त करता है। वह बाढ़, सूखा, युद्ध आदि पर आकस्मिक खर्चों को पूरा करने के लिए संसद द्वारा स्वीकृति तक भारत की आकस्मिक निधि से अग्रिम राशि लेने की मंजूरी भी दे सकता है।

(iv) क्षमादान आदि की शक्ति

राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को दी गई सजा को क्षमा कर सकता है, फाँसी रोक सकता है, सजा में बिलंब या छूट दे सकता है या किसी अपराध के लिए दंडित किसी व्यक्ति की सजा को रद्द या माफ कर सकता है या उसमें कमी कर सकता है। बशर्ते (क) दण्ड या सजा न्यायालय में दी हो, (ख) दण्ड या सजा ऐसे मामले संबंधी कानून को तोड़ने के लिए हो जिस पर संघ सरकार का कार्यपालक अधिकार लागू हो, तथा (ग) ऐसा प्रकरण हो जिसमें मृत्यु दण्ड दिया गया हो।

> उस मामले का पता लगाइए जिस में राष्ट्रपति के क्षमादान के अधिकार को लेकर विवाद उत्पन्न हुआ।

आपातकालीन शक्तियाँ

यहां तक हमने सामान्य स्थिति में राष्ट्रपति की शक्तियों की चर्चा की है। अब हम आपात स्थिति में राष्ट्रपति की शक्तियों की चर्चा करेंगे।

भारत के संविधान में तीन प्रकार की आपात स्थितियों की संभावना का जिक्र हुआ है : (1) युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण उत्पन्न आपात स्थिति (2) राज्यों में सांविधानिक तंत्र की विफलता से उत्पन्न आपात स्थिति (3) वित्तीय आपात स्थिति।

(1) युद्ध, बाह्य या सशस्त्र विद्रोह

जब राष्ट्रपति इस बात से संतुष्ट हो जाता है कि बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह होने से देश की सुरक्षा के लिए गंभीर संकट उत्पन्न हो गया है, तब वह सारे देश या उसके किसी भाग में आपात स्थिति घोषित कर सकता है। यदि वह संतुष्ट है कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह का संकट सन्निकट है तो इस स्थिति में भी वह आपातस्थिति घोषित कर सकता है। आपात स्थिति के अंतर्गत संसद राज्य सूची के विषयों पर कानून बनाने का अधिकार ग्रहण कर लेती है। संसद किसी राज्य को कार्यपालक कार्यों के संचालन के बारे में निर्देश जारी कर सकती है। राष्ट्रपति संघ और राज्यों के बीच राजस्व के वितरण में भी परिवर्तन कर सकता है। इस सब का अर्थ है कि विभिन्न राज्यों की आंतरिक

स्वायत्तता निलंबित हो जाती है। इस प्रकार की आपात स्थिति की घोषणा राष्ट्रपति को अपराधों के लिए दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण तथा प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के संरक्षण के मौलिक अधिकार के अतिरिक्त अन्य मौलिक अधिकारों और उनकी सांविधानिक गारंटियों के परिचालन के निलंबन का अधिकार भी दे सकती है। तब किसी नागरिक को इन अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए न्यायालय में जाने का अधिकार नहीं रहता। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आपात स्थिति उद्घोषणा की तारीख से एक माह के अंदर दोनों सदनों में अलग-अलग मतदान कराया जाता है। यदि एक माह की अवधि बीतने से पहले लोकसभा भंग कर दी जाए तो राज्य सभा द्वारा एक माह के अन्दर उद्घोषणा का अनुमोदन अवश्य हो जाना चाहिए और लोकसभा भी पुनर्निर्वाचन के बाद अपनी बैठक की पहली तारीख के बाद 30 दिनों के अंदर अनुमोदन आवश्यक करे। इस प्रकार अनुमोदित उद्घोषणा छह माह तक वैध रहती है, पर इसी पद्धति से इसे इस बार में छह माह तक बढ़ाया जा सकता है। आपात स्थिति किस अवधि तक जारी रह सकती है, इस बारे में संविधान में कोई समय-सीमा नहीं निर्धारित है क्योंकि उद्घोषणा का अनुमोदन संसद द्वारा किया जाता है। आपात स्थिति तब तक लागू रहती है, जब तक अनुवर्ती उद्घोषणा द्वारा उसे रद्द न कर दिया जाए।

(2) राज्य में सांविधानिक तंत्र की विफलता से उत्पन्न आपातस्थिति

यदि राष्ट्रपति राज्यपाल के प्रतिवेदन पर अन्यथा इस बात से संतुष्ट हो जाता है कि किसी राज्य की सरकार संविधान के अनुसार नहीं चलाई जा सक्ती, तो वह उस राज्य में आपात स्थिति की घोषणा कर सकता है। ऐसी आपात स्थिति में राष्ट्रपति संबंधित राज्य की सरकार के किसी एक या सभी कार्यों को या राज्यपाल के किसी भी अधिकार को स्वयं अपने हाथ में ले सकता है। वह यह घोषणा भी कर सकता है कि राज्य की विधायिका के अधिकारों का प्रयोग संसद करेगी साथ ही संसद अनुमोदन करे तो राष्ट्रपति उस राज्य को संचित निधि में से राज्य द्वारा खर्च को स्वीकृति दे सकता है। वह राज्य के किसी प्राधिकरण से संबंधित किसी उपबंध को भी निलंबित कर सकता है परंतु वह उच्च न्यायालय के किसी भी अधिकार को अपने हाथ में नहीं ले सकता। वह राज्य की विधायिका को भंग कर सकता है और राज्य की मंत्रिपरिषद् को हटा सकता है।

(3) वित्तीय आपात स्थिति

यदि राष्ट्रपति संतुष्ट है कि समूचे देश या उसके किसी भाग की वित्तीय स्थिरता या साख के लिए संकट उत्पन्न हो गया है तो वह वित्तीय आपात स्थिति घोषित कर सकता है। ऐसी स्थिति में वह किसी राज्य को ऐसे निर्देश दे सकता है जिन्हें वह उपयुक्त समझता है और उस राज्य से वित्तीय औचित्य के कुछ सिद्धांतों का पालन करने के लिए कह सकता है। वह सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों सहित केंद्र तथा राज्य सरकारों के अंतर्गत काम करने वाले सभी श्रेणियों या किसी भी श्रेणी के कर्मचारियों के वेतन तथा भत्तों में कटौती के आदेश दे सकता है। वह राज्यों के लिए यह अनिवार्य कर सकता है कि वे राज्य विधानमण्डल में पारित सभी धन विधेयकों को स्वीकृति के लिए उसके सामने रखें।

कार्यकाल तथा वेतन

राष्ट्रपति पांच वर्ष की अवधि के लिए पद पर रहता है। उसका फिर से चुनाव हो सकता है। अन्य कई भत्तों के अलावा वह रु. 15,000 मासिक वेतन पाता है। वह किराये से मुक्त

राजकीय आवास पाने का हकदार है। उसके वेतन, भत्ते आदि भारत की संचित निधि से दिये जाते हैं। अतः उन पर संसद में मतदान नहीं होता। उसके कार्यकाल में इन वेतन और भत्तों में कमी नहीं की जा सकती।

राष्ट्रपति को हटाने की विधि

राष्ट्रपति को अपने कार्यकाल की समाप्ति से पूर्व भी संविधान के उल्लंघन के लिए महाभियोग द्वारा पद मुक्त किया जा सकता है। संसद के किसी भी सदन में इस प्रयोजन से दो-तिहाई बहुमत द्वारा प्रस्ताव के रूप में आरोप प्रस्तुत किए जा सकते हैं। पर उससे पहले संसद के उस सदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित न्यूनतम 14 दिनों का नोटिस देना पड़ता है। दूसरा सदन आरोपों की जाँच करता है। यदि दूसरे सदन की कुल सदस्य संख्या के दो-तिहाई बहुमत द्वारा भी अंतिम रूप से आरोपों को सही पाया जाता है तो राष्ट्रपति को तत्काल पद से हटा दिया जाता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए जाँच करने वाले सदन के सामने स्वयं उपस्थित हो या उसकी ओर से उसका प्रतिनिधि उपस्थित हो। अपना कार्यकाल पूर्ण होने से पहले ही राष्ट्रपति स्वयं भी त्यागपत्र दे सकता है। त्याग पत्र वह उपराष्ट्रपति को देता है। मृत्यु, त्यागपत्र या पद से हटाए जाने की स्थिति में उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति के पद पर तब तक काम करेगा जब तक नए राष्ट्रपति का चुनाव न हो जाए। पद रिक्त होने के छह माह की अवधि बीतने से पहले यह चुनाव हो जाना चाहिए। नए पदधारी को पाँच वर्ष की पूर्ण अवधि के लिए चुना जाता है।

राष्ट्रपति की स्थिति

राष्ट्रपति केंद्र में शासन का नाममात्र का अध्यक्ष होता है। वास्तविक शक्ति मंत्रिपरिषद् के हाथों में रहती है। शासन का समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से होता है। यह कार्य वह मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार करता है। 42वें संशोधन के अनुसार वह इस सलाह को मानने के लिए बाध्य हैं।

उप-राष्ट्रपति

उप-राष्ट्रपति संसद के उच्च सदन (राज्य सभा) का पदेन सभापति होता है। उपराष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के लिए निम्नांकित योग्यताएँ होनी चाहिए :

(क) वह भारत का नागरिक हो
(ख) उसकी न्यूनतम आयु 35 वर्ष हो,
(ग) उसमें राज्य सभा की सदस्यता के लिए अपेक्षित योग्यताएँ हों,
(घ) वह दिवालिया या मानसिक रूप से अक्षम न हो,
(ङ) उसे कभी न्यायालय से दोषी न ठहराया गया हो,
(च) केंद्र, राज्य अथवा किसी राजकीय, स्थानीय प्राधिकरण के अंतर्गत वह लाभ के पद पर न हो।

निर्वाचन

उप-राष्ट्रपति का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है। उपराष्ट्रपति का निर्वाचन दोनों सदनों के सभी सदस्यों द्वारा संयुक्त बैठक में गुप्त मतदान द्वारा अनुपातिक प्रतिनिधित्व पर आधारित एकल संक्रमणीय मतप्रणाली द्वारा होता है। राज्य सभा अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत से पारित और लोक सभा द्वारा अनुमोदित प्रस्ताव से उपराष्ट्रपति को पद मुक्त कर सकती है। पद रिक्त होने की स्थिति में नए उपराष्ट्रपति का निर्वाचन यथासंभव शीघ्रता से किया जाएगा। नया उपराष्ट्रपति का कार्यकाल भी पाँच वर्ष ही होगा।

वेतन भत्ते

भारत के उपराष्ट्रपति को वेतन और भत्ते राज्य सभा के सभापति होने के नाते मिलते हैं। उसे प्रतिमास 7500 रुपये वेतन तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करते हुए वह राष्ट्रपति के समकक्ष वेतन-भत्ते प्राप्त करता है।

उपराष्ट्रपति के कार्य

उपराष्ट्रपति कई कार्यों को निष्पादित करता है। इनमें अधिक महत्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :

1. वह राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। जब वह भारत के राष्ट्रपति के पद पर स्थानापन्न होकर उस पद के कार्यों को निष्पादित कर रहा होता है तो वह राज्य सभा के सत्र का सभापतित्व नहीं करता।
2. राष्ट्रपति की मृत्यु, त्यागपत्र या निष्कासन की स्थितियों में वह नए राष्ट्रपति के चुने जाने तक कार्यवाहक राष्ट्रपति छह माह तक हो सकता है।
3. जब राष्ट्रपति अनुपस्थिति, बीमारी या किसी दूसरे कारण से अपने कार्य निष्पादित करने में असमर्थ होता है, उस समय उपराष्ट्रपति उसके कार्यों को निष्पादित करेगा। ऐसी अवधि के दौरान वह राष्ट्रपति के सब अधिकारों और उन्मुक्तियों का हकदार होगा। वह संसद द्वारा कानून के अनुसार नियम परिलब्धियों (वेतन), भत्तों तथा विशेषाधिकारों को पाने के लिए हकदार होगा। कार्यवाहक के रूप में स्थानापन्न होने पर वह राष्ट्रपति के समकक्ष वेतन आदि पाने के लिए हकदार होता है।

प्रधान मंत्री

भारत के प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। पर सामान्यतः राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त करता है जो लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता हो। यह आवश्यक है क्योंकि संविधान प्रधानमंत्री और उसके सहयोगी मंत्रियों को लोकसभा के प्रति उत्तरदायी मानता है। परंतु संविधान राज्य सभा के किसी सदस्य को प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्त करने से राष्ट्रपति को नहीं रोकता, बशर्ते वह व्यक्ति बहुमत प्राप्त दल का नेता चुन दिया जाए। राष्ट्रपति संसद के बाहर से भी किसी

पं. जवाहर लाल नेहरू (1889-1964 ईसवी) भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के महान नेता। आधुनिक भारत के निर्माता। भारत के प्रथम प्रधान मंत्री जो सत्रह वर्षों तक इस पद पर बने रहे। प्रसिद्ध पुस्तकें : "डिस्कवरी ऑफ इंडिया" (Discovery of India), "ग्लिम्पसेस ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री" (Glimpses of World History), "लैटर्स फ्राम ए फादर टू हिज डॉटर" (Letters from a Father to his Daughter)

व्यक्ति को प्रधान मंत्री के पद पर नियुक्त कर सकता है। किंतु ऐसे व्यक्ति को छह मास के अंदर अपने को संसद का सदस्य निर्वाचित करवा लेना आवश्यक होता है।

कार्यकाल तथा वेतन आदि

प्रधान मंत्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत अपने पद पर बना रहता है। सामान्यतः राष्ट्रपति स्वेच्छा से प्रधान मंत्री को पद से नहीं हटा सकता क्योंकि वह (राष्ट्रपति) परंपरा के अनुसार लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल के नेता को प्रधान मंत्री नियुक्त करता है। सामान्यतः प्रधान मंत्री नई लोक सभा के चुनाव होने तक पद धारण करता है। यहाँ तक कि लोक सभा को भंग कर दिए जाने पर भी राष्ट्रपति प्रधान मंत्री से कह सकता है कि नई लोक सभा के चुने जाने तक पद पर कार्य करता रहे। उसे प्रति माह वेतन भत्ते तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

कार्य

यद्यपि संविधान प्रधान मंत्री को एक विशिष्ट स्थिति प्रदान करता है लेकिन उसके अधिकारों तथा कार्यों का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं करता। संविधान के विभिन्न प्रावधानों से हम इस बारे में कुछ अभिप्राय निकाल सकते हैं।

प्रधान मंत्री मंत्रियों के चयन और उनमें विभागों के वितरण के बारे में राष्ट्रपति को परामर्श देता है। चूंकि मंत्रियों की नियुक्ति के बारे में प्रधान मंत्री की सलाह अनिवार्य रूप से स्वीकृत होती है, इसलिए वास्तव में मंत्रियों की नियुक्ति प्रधान मंत्री पर ही निर्भर करती है।

यद्यपि संघ सरकार के सारे कार्यपालक अधिकार राष्ट्रपति में निहित होते हैं तथापि वास्तव में प्रधान मंत्री तथा उसकी मंत्रिपरिषद् द्वारा ही उनका प्रयोग होता है। प्रधान मंत्री ही विभिन्न मंत्रियों के लिए कार्य तय करके उन्हें सौंपता है। वह मंत्रिपरिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करता है। मंत्रिमण्डल की बैठकों में सरकार की नीतियाँ बनाई जाती हैं और उनके बारे में निर्णय किए जाते हैं। मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष होने के नाते मंत्रिपरिषद् पर प्रधान मंत्री का नियंत्रण रहता है और वह उसके निर्णयों को प्रभावित करने में सर्वाधिक शक्तिशाली स्थिति में रहता है।

वह राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् के बीच कड़ी का कार्य करता है। प्रधान मंत्री ही मंत्रिपरिषद् के निर्णयों के बारे में राष्ट्रपति को सूचना देता है।

प्रधान मंत्री के महत्वपूर्ण कार्यों में से एक यह है कि वह विभिन्न विभागों और मंत्रियों की नीतियों का समन्वयन करता है। वह देश की आंतरिक और विदेशी नीतियों को दिशा देता है। वह सब विभागों पर नजर रखता है। वह किसी मंत्री से त्यागपत्र देने के लिए भी कह सकता है।

संसद में प्रधान मंत्री लोक सभा का नेता और सरकार का मुख्य प्रवक्ता होता है। महत्वपूर्ण और नीतिगत मामलों से जुड़े सारे कानूनों के बनने की प्रक्रिया को संचालित करने का दायित्व उसी पर है। प्रधान मंत्री से परामर्श करके लोक सभा अध्यक्ष सदन की कार्यसूची तय करता है। इसके अतिरिक्त प्रधान मंत्री अन्य कई कार्य करता है, जैसे वह योजना आयोग का अध्यक्ष भी होता है।

कैबिनेट सचिवालय

सर्वोच्च स्तर पर निर्णय लेने की प्रक्रिया में कैबिनेट (मंत्रिमण्डल) सचिवालय महत्वपूर्ण समन्वयन की भूमिका निभाता है। यह प्रधान मंत्री के निर्देश के अंतर्गत संचालित होता है। विभिन्न मामलों को कैबिनेट और उसकी समितियों के सम्मुख प्रस्तुत करना, निर्णयों के अभिलेख तैयार करना और निर्णयों के कार्यान्वयन

के बारे में अनुवर्ती कार्यवाही करना, ये इस सचिवालय के कार्यों में सम्मिलित हैं। यह सचिवों की समिति के लिए भी काम करता है जो कैबिनेट सचिव की अध्यक्षता में समय-समय पर बैठकें करती है। यह इन समस्याओं पर विचार करके सलाह देती है जिनमें अन्तर्मंत्रालयी परामर्श और समन्वय की आवश्यकता होती है। यह कार्य नियमावली निर्मित करती है और राष्ट्रपति के अनुमोदन से और प्रधान मंत्री के निर्देश के अंतर्गत मंत्रालयों और विभागों को सरकार का कार्य आवंटित करती है।

मंत्रिपरिषद्

संविधान में राष्ट्रपति की सहायता तथा परामर्श के लिए मंत्रिपरिषद् का प्रावधान है। इसमें कैबिनेट स्तर के मंत्री, राज्य मंत्री, उप मंत्री सम्मिलित होते हैं। प्रधान मंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् ही वास्तविक कार्यपालक प्राधिकार का प्रयोग करती है। ये सब मंत्रिगण सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी हैं। वे राष्ट्रपति में निहित कार्यपालक अधिकारों का प्रयोग करते हैं। वे सब मिलकर वास्तविक नीति निर्माता निकाय हैं। मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य को लोक सभा अथवा राज्य सभा का सदस्य होना चाहिए या मंत्री के तौर पर नियुक्ति होने के बाद छह माह के अंदर किसी भी एक सदन के सदस्य के रूप में निर्वाचित होना चाहिए। यदि ऐसा करने में वह सफल नहीं रहा तो उसे मंत्रिपरिषद् से त्यागपत्र देना होता है। मंत्रिपरिषद् में तीन श्रेणियों के मंत्री होते हैं :

(1) कैबिनेट मंत्री, (2) राज्य मंत्री और (3) उपमंत्री। इसके अतिरिक्त संसदीय सचिव भी होते हैं जो मंत्री नहीं होते। वे संसदीय कार्य में उन मंत्रियों की सहायता करते हैं जिनसे वे जुड़े होते हैं। उनके पास स्वतंत्र रूप से कोई अधिकार नहीं होते और न उनके ऐसे कार्य ही होते हैं।

मंत्रिपरिषद् में कैबिनेट धुरी की स्थिति में रहती है। कैबिनेट केवल अनौपचारिक निकाय होती है और उसमें सब मंत्री शामिल नहीं होते हैं। यह मंत्रिपरिषद् का महत्वपूर्ण भाग है परंतु संविधान में कैबिनेट की चर्चा नहीं हुई है। बहुधा कैबिनेट मंत्री की सहायता करने के लिए राज्य मंत्री होता है। प्रत्येक विभाग में भारत सरकार का एक सचिव होता है जो नीतिगत मामलों और सामान्य प्रशासन के बारे में मंत्री को सलाह देता है। कैबिनेट के सामने बड़े-बड़े प्रशासनिक, विधायी और वित्तीय मामले आते हैं। यह केंद्र सरकार की सामान्य कार्यपालक नीतियों का निर्माण करती है। कैबिनेट मंत्रियों की देखरेख में एक या अधिक विभाग होते हैं। यह संसद में कानूनों को प्रस्तावित भी करती है। यह बजट तैयार करके राजस्व के स्रोतों और खर्च की मदों को तय करती है। यह सरकार की विदेश नीति भी बनाती है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि कैबिनेट का नाम राष्ट्रपति की सहायता करना और सलाह देना है। राष्ट्रपति के लिए सलाह को मंजूर करना अनिवार्य है। जैसा देखा जा चुका है, कैबिनेट का प्रत्येक निर्णय राष्ट्रपति के नाम पर होता है।

मंत्री संसद की बैठकों में उपस्थित होते हैं, विधेयकों को प्रस्तुत करते हैं, बहस में भाग लेते हैं, प्रश्नों के उत्तर देते हैं और अपनी नीतियाँ समझाते हैं। मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है। मंत्रिपरिषद् संसद सदस्यों के बहुमत का विश्वास पाने तक की अवधि में ही सत्तासीन रहती है। यह एक टोली या टीम के तौर पर काम करती है। इसके सदस्य साथ ही काम करते हैं और साथ ही डूबते या उबरते हैं। यदि लोक सभा एक भी मंत्री में अविश्वास व्यक्त कर देती है तो समूची

मंत्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना पड़ जाता है।

सामूहिक उत्तरदायित्व संसदात्मक शासन प्रणाली का एक महत्वपूर्ण पहलू है। संसद के प्रति मंत्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व के बिना राष्ट्र में संसदात्मक शासन प्रणाली प्रभावकारी और कुशलता पूर्वक कार्य नहीं कर सकती। मंत्रिपरिषद् द्वारा सामूहिक तौर पर जो निर्णय लिए जाते हैं, उनका समर्थन समस्त मंत्रियों को करना पड़ता है। यदि कोई मंत्रिपरिषद के निर्णय से असहमत है तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है।

मंत्रियों के उत्तरदायित्व का एक दूसरा पक्ष भी है। संबंधित मंत्रालयों और विभागों के मंत्री विभागीय कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायित्व होते हैं। मंत्रिमण्डलीय उत्तर-दायित्व का कार्यान्वयन प्रधान मंत्री के माध्यम से किया जाता है। मंत्रीगण प्रधान मंत्री के ही नेतृत्व और निर्देशन में कार्य करते हैं। यहाँ उस मामले का उल्लेख करना उचित होगा जिसमें श्री लालबहादुर शास्त्री ने रेलमंत्री के रूप में एक रेल दुर्घटना के लिए स्वयं को नैतिक रूप से जिम्मेदार ठहराते हुए अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया था।

मंत्रिपरिषद् प्रधान मंत्री के नेतृत्व में काम करती है। मंत्रिपरिषद् के संबंध में प्रधान मंत्री के पास व्यापक शक्तियाँ और अधिकार हैं। वह परिषद् के सदस्यों का चयन करके उनमें विभाग बाँटता है। वह कैबिनेट की बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह किसी एक सदस्य से त्यागपत्र मांग कर परिषद् में बदलाव कर सकता है और दूसरे व्यक्ति की नियुक्ति करा सकता है। यदि वह त्यागपत्र दे दे तो मंत्रिपरिषद् भंग हो जाती है। परिषद् के किसी सदस्य और प्रधान मंत्री के बीच मतभेद होने पर उस सदस्य को त्यागपत्र देना होता है या प्रधान मंत्री की बात माननी पड़ती है। प्रधान मंत्री की प्रमुखता मंत्रिपरिषद् के सामूहिक दायित्व के लिए आवश्यक गारंटी है। वह संसद में सरकार का मुख्य प्रवक्ता होता है। प्रधान मंत्री मंत्रिपरिषद् और राष्ट्रपति के बीच की मुख्य कड़ी है। वह सरकार के कामकाज के बारे में राष्ट्रपति को अवगत कराता रहता है।

प्रधान मंत्री मंत्रिपरिषद का स्वामी नहीं है। आमतौर पर मंत्रिपरिषद् के सदस्य एक ही राजनीतिक दल के होते हैं और उनमें से हरेक महत्वपूर्ण दलीय नेता होता है। उनके सहयोग और सद्भावना से वंचित होकर प्रधान मंत्री अपने पद पर बना नहीं रह सकता। राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत मंत्रिपरिषद् सत्ता में रहती है।

राज्य कार्यपालिका

राज्य स्तर पर कार्यपालिका की संरचना केंद्रीय कार्यपालिका के अनुरूप है। जो भूमिका केंद्र में राष्ट्रपति की है वही राज्य में राज्यपाल की होती है। राज्य में मुख्यमंत्री का पद प्रधान मंत्री के पद जैसा ही है। मंत्रिपरिषद् मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में काम करती है। इसका क्षेत्राधिकार संविधान की राज्य तथा समवर्ती सूचियों में दिए विषयों तक सीमित है।

राज्यपाल

राज्य की शासन प्रणाली केंद्र की शासन प्रणाली से मिलती-जुलती है। राज्य कार्यपालिका का प्रधान राज्यपाल होता है। इसमें मुख्य मंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिमण्डल भी होता है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और वह राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत पद धारण करता है। उसका कार्यकाल पांच वर्ष होता है। इससे पहले भी वह त्यागपत्र दे सकता है।

राज्यपाल की सहायता और परामर्श के लिए मंत्रिपरिषद् होती है जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री होता है। राज्य की विधायिका में बहुमत दल के

नेता को राज्य द्वारा मुख्य मंत्री नियुक्त किया जाता है। राज्यपाल द्वारा विधान सभा और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्य मंत्री की सलाह पर होती है। राज्यपाल के प्रसाद पर्यंत मंत्रिगण पद पर रहते हैं। मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

राज्यपाल राज्य के शासन का सांविधानिक अध्यक्ष है किंतु वास्तविक तथा प्रभावी प्राधिकार मंत्रियों द्वारा प्रयोग किए जाते हैं।

संविधान में निर्धारित है कि राज्य के कार्यपालक अधिकार राज्य में निहित होंगे और सारी कार्यपालक कार्यवाही उसी के नाम पर होगी। राज्यपाल मंत्रियों से प्रशासन तथा विधि निर्माण संबंधी जानकारी प्राप्त करता है। राज्यपाल राज्य में महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ करता है जैसे—राज्य का महाधिवक्ता, राज्य लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष तथा सदस्य आदि। वह अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ भी करता है तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ करते समय राष्ट्रपति उससे परामर्श लेता है।

राज्यपाल राज्य विधायिका के अधिवेशन बुलाता है, और उसका स्थगन तथा सत्रावसान करता है। वह विधायिका के निम्न सदन, विधानसभा को भंग कर सकता है। विधायिका द्वारा पारित सभी विधेयक स्वीकृति के लिए उसके पास भेजे जाते हैं। वह राष्ट्रपति द्वारा विचार किए जाने के लिए भी विधेयकों को आरक्षित कर सकता है। प्रत्येक वर्ष राज्य विधायिका का पहला सत्र राज्यपाल के अभिभाषण से प्रारंभ होता है। वह विधायकि के अवकाश के समय अध्यादेश जारी करने की शक्ति रखता है पर विधायिका के पुनः सम्मिलित होने के बाद छह सप्ताह की अवधि बीतने पर अध्यादेश प्रभावी नहीं रह पाते बशर्ते पहले ही सदन ने स्वीकृति न दे दी हो। राज्यपाल विज्ञान, कला, साहित्य सहकारी आंदोलन तथा समाजसेवा के क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त व्यक्तियों से विधान परिषद् की कुल सदस्य संख्या का छठा भाग मनोनीत करता है

राज्यपाल की सिफारिश के बिना विधान सभा में कोई धन विधेयक या वित्तीय मामला या वित्तीय मामले में संशोधन नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। राज्यपाल की पूर्व अनुमति से प्रत्येक वर्ष राज्य विधायिका में बजट प्रस्तुत किया जाता है। धन विधेयक पर वह निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता।

राज्यपाल को अधिकार दिया गया है कि राज्य के कार्यपालक अधिकार से संबंधित किसी अपराध के लिए न्यायालय द्वारा दोषी पाए गए किसी व्यक्ति को क्षमादान दे या उसकी सजा में कमी कर दे या उसे रद्द कर दे। पर मृत्यु दण्ड मिले हुए मामले में वह क्षमादान नहीं कर सकता।

जनजातीय क्षेत्रों के संरक्षण और ऐसे क्षेत्र के निवासियों की आदिम जीवन पद्धति की रक्षा करने के लिये सिक्किम, नागालैंड, असम, मेघालय तथा त्रिपुरा से संबद्ध राज्यपालों को कुछ स्वविवेकाधिकार दिए गए हैं। राज्य की विधायिका में बहुमत में किसी दल के न होने की स्थिति में राज्य के मुख्यमंत्री की नियुक्ति, राज्य के विधेयकों का आरक्षण, राज्य में सांविधानिक तंत्र की विफलता की स्थिति में राष्ट्रपति को सूचना, जैसे सांविधानिक कार्यों को करते समय सब राज्यपालों को अपनी विवेक-बुद्धि से निर्णय करना होता है।

आपात स्थिति के दौरान राज्यपाल अपने मंत्रियों की सलाह न मानते हुए भी काम कर सकता है। पर उसे राष्ट्रपति के निर्देश अवश्य मानने होते हैं।

इस प्रकार , यद्यपि सामान्य समय में राज्यपाल राज्य का सांविधानिक अध्यक्ष होता है। राज्य में आपात स्थिति की अवधि के दौरान वह केंद्र सरकार के अभिकर्ता (एजेंट) के तौर पर काम करता है।

राज्यपाल की स्थिति

जैसी स्थिति भारत के राष्ट्रपति की है, वैसी ही स्थिति राज्य के राज्यपाल की है यानी सिद्धांत और व्यवहार में अंतर रखा गया है। सैद्धांतिक रूप में राज्यपाल को व्यापक कार्यपालिका अधिकार दिए गए हैं परंतु व्यावहारिक रूप से वह मात्र संविधानिक शासक है और आमतौर पर उसे अपने मंत्रियों की सलाह के अनुसार काम करना होता है। वैसे सामान्य समय में भी संविधान राज्यपाल को कुछ स्वविवेक के अधिकार प्रदान करता है।

मंत्रिपरिषद्

राज्य स्तर पर मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिपरिषद होती है। इसे संघीय मंत्रिपरिषद् के अनुरूप काम करना होता है। राज्यपाल मुख्यमंत्री को नियुक्त करता है। सामान्यतः राज्य विधायिका में बहुमत प्राप्त दल के नेता को ही मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाता है। अस्य मंत्री राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री के परामर्श पर नियुक्त किए जाते हैं। राज्य विधायिका की सदस्यता न रखने वाले व्यक्ति की भी नियुक्ति मंत्री के पद पर हो सकती है, पर छह माह के भीतर उसे राज्य विधायिका के सदस्य के तौर पर निर्वाचित होना होगा। मुख्य मंत्री की सलाह पर मंत्रियों में विभागों को बाँटा जाता है। मुख्यमंत्री ही राज्य की सरकार का वास्तविक प्रधान होता है। वही मंत्रियों का चयन और उनके विभागों का निर्धारण करता है । उसी की सिफारिश पर राज्यपाल मंत्रियों की नियुक्ति करता है। यदि वह किसी मंत्री से संतुष्ट नहीं है तो वह उससे त्यागपत्र देने को कह सकता है या राज्यपाल से उसे बर्खास्त करा सकता है।

मुख्य मंत्री मंत्रिपरिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करता है। मुख्य मंत्री विभिन्न मंत्रालयों के बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य भी करता है। मुख्य मंत्री मंत्रियों और राज्यपाल के बीच कड़ी के रूप में भी है। बहुमत दल का नेता होने के कारण मुख्य मंत्री विधान सभा का भी नेता होता है। मुख्य मंत्री ही विधान सभा के अंदर तथा बाहर अपनी सरकार की नीति का प्रमुख प्रवक्ता होता है।

मंत्रिपरिषद् राज्य की वास्तविक कार्यपालिका होती है। वैसे तो राज्यपाल के नाम पर प्रशासन चलता है लेकिन वास्तविक निर्णय आमतौर पर मंत्रियों द्वारा लिए जाते हैं। सामान्य स्थितियों में राज्यपाल उनकी सलाह मानता है। राज्य के मुख्य मंत्री का कर्त्तव्य है कि राज्य के मामलों के प्रशासन से संबंधित मंत्रिपरिषद् के सब निर्णयों और प्रस्तावित कानूनों के बारे में राज्यपाल को सूचना देता रहे और साथ ही, राज्य द्वारा मांगी गई उपरोक्त विषयक सूचनाएँ भी राज्यपाल को प्रस्तुत करे। यदि किसी मंत्री द्वारा किसी मामले पर निर्णय ले लिया गया है तो राज्यपाल यह अपेक्षा कर सकता है कि उसे संपूर्ण मंत्रिपरिषद् के सामने रखा जाए। संविधान कहता है कि मंत्री राज्यपाल के प्रसाद पर्यंत पद धारण करेंगे। इस प्रकार, सिद्धांत रूप में राज्यपाल चाहे तो किसी मंत्री को निकाल सकता है लेकिन मंत्रिपरिषद्

> किसी एक ऐसे राज्य का पता लगाइए जिसमें राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच किन्हीं मामलों पर मतभेद हुए हों। उन मतभेदों के बारे में भी पता लगाइए।

की विधान सभा के प्रति सामूहिक जिम्मेदारी की दृष्टि से वह व्यवहार में इस अधिकार का प्रयोग नहीं करेगा।

संविधान यह प्रावधान करके विधान सभा के संबंध में मंत्रिपरिषद् की स्थिति को परिभाषित करता है कि मंत्रिपरिषद् के पास राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व है। इसका अर्थ है कि मंत्री तभी तक अपने पदों पर रह सकते हैं जब तक उन्हें राज्य विधायिका के सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त रहता है। विधान सभा की बैठकों में उपस्थित होने और कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार उन्हें मिला है। वे सरकार के प्रस्तावित कानूनों को विधानसभा में प्रस्तुत करके संचालित करते हैं।

राज्य की विधायिका मंत्रियों के कार्य का पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण कई प्रकार से कर सकती है। विधायिका के सदस्य प्रश्न पूछ सकते हैं, पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं और सूचना भी प्राप्त कर सकते हैं। वे बजट की बहस में प्रशासन के विरुद्ध जनता की शिकायतें उभार सकते हैं। मंत्रियों या उनके विभागों द्वारा की गई गलतियों और चूकों को प्रकाश में लाने और उस बारे में आलोचना करने के लिए वे अत्यावश्यक सार्वजनिक महत्व के मामलों पर स्थगन प्रस्ताव ला सकते हैं। अंत में, सामूहिक दायित्व के सिद्धांत के आधार पर विधान सभा मंत्रिमण्डल द्वारा समर्पित सार्वजनिक विधेयक को अस्वीकृत करके, बजट की मांगों में कमी करके या मंत्रिमण्डल के विरुद्ध सीधे अविश्वास प्रस्ताव पारित करके मंत्रिपरिषद् को हटा सकती है।

संक्षेप में, विधायिका मंत्रिमण्डल को बना सकती है और मिटा सकती है। मंत्री भी विधान मण्डल को प्रभावित कर सकते हैं और उस पर नियंत्रण रख सकते हैं। वे बहुमत दल के होते हैं। इस बहुमत के समर्थन से वे सामान्यतः अपने विधायी प्रस्तावों को पारित करा लेते हैं। यदि दलीय अनुशासन कठोर है तो विधायिका को मात्र ठप्पा लगाने की मशीन के तौर पर इस्तेमाल कर सकता है। जब सरकार द्वारा प्राप्त बहुमत खतरे में होता है यानी भरोसेमंद नहीं होता या दल में गंभीर रूप से फूट पड़ी होती है, तभी विधायिका मंत्रिपरिषद् को सत्ता से निष्कासित कर सकती है।

कुछ करने को

कक्षा मॉनिटर का निर्वाचन (राष्ट्रपति के निर्वाचन का नमूना)

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत प्रणाली द्वारा :

अध्यापक आवश्यकता तथा सुविधानुसार विद्यार्थियों को नीचे दिए मॉडल के अनुसार बाँट सकता है।

1. कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या : 45

2. विभाजन :

(1) 1 से 25 तक विद्यार्थी राज्यों का प्रतिनिधित्वय करेंगे।

(2) 26 से 35 तक विद्यार्थी संसद का प्रतिनिधित्व करेंगे।

(3) 36 से 40 तक विद्यार्थी प्रत्याशी (उम्मीदवार) होंगे।

(4) शेष विद्यार्थी चुनाव व्यवस्था में सहयोग देंगे।

3. सदस्यों के मतों का मूल्य : प्रत्येक सदस्य एक मत देगा परंतु उसके मत का मूल्य निम्न तरीके से होगा।

(1) राज्यों के प्रतिनिधि – 1 से 25 तक प्रत्येक विद्यार्थी के मत का मूल्य उसकी क्रम संख्या के समान होगा। जैसे 14वें स्थान पर जो विद्यार्थी है उसके मत का मूल्य 14, 20वें स्थान वाले का 20, 25वें के मत का मूल्य 25 होगा। विधायकों के मतों की संख्या में विभिन्नता राज्यों के विधायकों के मतभार की विभिन्नता को दर्शाती है। इस प्रकार राष्ट्रपति भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करता है। राज्यों के कुल मतों का मूल्य या 1 से 25 तक के मतदाताओं का कुल मूल्य 1 से 25 तक के अंकों का योग होगा, जो 325 है।

(2) संसद के प्रतिनिधि – 26 से 35 तक के 10 मतों का मूल्य राज्यों के समान होगा अर्थात् 325 ही होगा। इसीलिए प्रत्येक संसद सदस्य के मत का मूल्य होगा $=325 \div 10 = 32.5$।

4. बिजयी घोषित करने के लिए न्यूनतम अंक : $\frac{325+325}{2}+1=\frac{650}{2}+1=327$

5. मतदान-पत्र का नमूना :

प्रत्याशी	मतदाता की पसंद
क	3
ख	1
ग	5
घ	2
ङ	4

6. चुनाव सम्पन्न होने के पश्चात् पसंदों के आधार पर मत गणना की जाए तथा निर्णय की घोषणा कर दी जाए। इस कार्य में अध्यापक कक्षा को सहयोग दें तथा उनका मार्गदर्शन करे।

अभ्यास

1. भारत के राष्ट्रपति का चुनाव कैसे होता है?
2. राष्ट्रपति की कार्यपालिका तथा क्षमादान संबंधी शक्तियों का विवेचन कीजिए।
3. राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों की व्याख्या कीजिए।
4. प्रधान मंत्री की भूमिका की विवेचन कीजिए।
5. कैबिनेट तथा मंत्रिपरिषद् में क्या अंतर है?
6. राज्यपाल की शक्तियों और स्थिति का वर्णन करें।
7. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   1. राष्ट्रपति पर महाभियोग
   2. सामूहिक उत्तरदायित्व
   3. व्यक्तिगत उत्तदायित्व
   4. उप-राष्ट्रपति

अध्याय 7

न्यायपालिका की सामान्य विशेषताएँ

आम नागरिक की सुरक्षा तथा भलाई इस बात पर निर्भर करती है कि उसे शीघ्र और निश्चित रूप से निष्पक्ष न्याय मिलता है या नहीं। न्यायपालिका निर्दोष व्यक्ति के लिए रक्षा कवच का काम करती है और बिना पक्षपात के प्रत्येक नागरिक के अधिकार की रक्षा करती है। आधुनिक राज्य का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य न्याय दिलाना है। अतः सरकार के विभिन्न अंगों में न्यायपालिका का महत्वपूर्ण स्थान है। सच तो यह है कि व्यक्ति की आजादी तब तक अर्थहीन है जब तक न्यायतंत्र को इस प्रकार गठित न किया जाए कि निष्पक्ष न्याय प्राप्त करना सुनिश्चित हो।

न्यायपालिका के मुख्य कार्य हैं : अधिकारों को सुनिश्चित करना, सभी अपराधियों को सजा देना, हानि पहुँचाने वालों और धन-संपत्ति हड़पने वालों से निर्दोष लोगों की रक्षा करना। सभी देशों में न्यायपालिका प्रचलित कानूनों को अलग-अलग मामलों में लागू करती है। पर इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमरीका जैसे देशों में, जहाँ कानूनों को संहिताबद्ध करके सुव्यवस्थित कर दिया गया है, न्यायाधीश न केवल कानूनों की व्याख्या करते हैं, बल्कि उनका निर्माण भी करते हैं। उन देशों में, जहाँ कानून की भाषा मूक अथवा अस्पष्ट होती है, न्यायाधीश से इस बात की आशा की जाती है कि वे उसे वाणी दे दें जिससे उन कानूनों का अर्थ स्पष्ट हो जाए। इस प्रकार व्याख्या के द्वारा जोड़ा गया अर्थ समुचित समझा जाता है और नैतिकता तथा सार्वजनिक नीति के समान सिद्धांतों के अनुरूप होता है। न्यायाधीशों द्वारा दिए गए निर्णय उसी प्रकार के भविष्य के मामलों के लिए उदाहरण या नजीर बन जाते हैं। कानूनों की व्याख्या के लिये ऊँचे दर्जे की कानूनी योग्यता की जरूरत होती है।

प्रत्येक निर्णय नजीर (उदाहरण) बन जाता है और सरकार की कई शाखाओं की शक्तियों को सुनिश्चित करता है। आगे के लिए इन शाखाओं के पारस्परिक संबंध और इनके नागरिकों से संबंध को भी तय करता है। संक्षेप में न्यायिक कार्य के लिए इस बात की ज़रूरत होती है कि न्यायाधीश कानून के प्रकाण्ड पंडित हों, संविधान के प्रति निष्ठावान हों, सच्चरित्र हों और (इन

सबसे अधिक ज़रूरी यह है कि) ईमानदार और स्वतंत्र हों।

राजतंत्रीय राज्यों में लोगों को शासकों के मनमाने हस्तक्षेप और उत्पीड़न से बचाने और न्यायाधीशों को कार्यपालिका का पिछलग्गू बनने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका स्वतंत्र रहे। गणतंत्रीय व्यवस्था वाले देशों में भी न्यायपालिका की निष्पक्षता ज़रूरी है ताकि पक्षपात की भावना से किए गए हस्तक्षेप से संविधान और कानूनों की रक्षा हो सके और किसी भी प्रकार के दमन से नागरिकों का बचाव किया जा सके। जब गंभीर राजनीतिक मुद्दे दलीय भावनाओं या दलबन्दी से जनता के मनों में हलचल मचा रहे हों, उस समय न्यायाधीशों का नैतिक साहस और उनकी ईमानदारी राष्ट्र के लिए बहुत मूल्यवान साबित होती है।

संरचना (बनावट)

प्रत्येक देश की न्यायप्रणाली में साधारणतया दो प्रकार के न्यायालय होते हैं। **दीवानी** और **फौजदारी** इन दोनों प्रकार के न्यायालयों के ऊपर उच्चतम न्यायालय होता है। उच्चतम न्यायालय के नीचे निम्नतर न्यायालय होते हैं जिनके अधिकार का आर्थिक तथा भूभागीय क्षेत्र निश्चित होता है।

कार्य

न्यायपालिका का प्रमुख कार्य विवादों की सुनवाई करके उन पर फैसले देना है। मान्य कार्यविधि के अनुसार, यानी साक्ष्य की प्रस्तुति, गवाहों की जाँच आदि द्वारा न्यायालय किसी प्रकरण के तथ्यों को निर्धारित करते हैं। तथ्यों की सचाई प्रमाणित होने पर न्यायालय को उपयुक्त कानून के आधार पर अपना निर्णय देना होता है।

बहुधा न्यायाधीश किसी प्रकरण पर उपयुक्त कानून का प्रयोग करने में कठिनाई महसूस करते हैं। भाषा की अस्पष्टता के कारण कानून का अर्थ बहुत साफ़ नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश से अपेक्षा की जाती है कि वह विधायिका की बुनियादी मंशा के बारे में निर्णय ले। अधिक महत्वपूर्ण बात यह होती है कि यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए जो मौजूदा कानूनों के दायरे में नहीं आती, तो वैसी स्थिति में न्यायाधीश का कर्त्तव्य है कि न्यायिक विधिनिर्माण प्रस्तुत करे। इस प्रकार का न्यायिक विधिनिर्माण ब्रिटेन जैसे राज्यों की विशेषता है।

कुछ देशों में न्यायपालिका कानून के संप्रयोग में भी भाग लेती है क्योंकि उससे अपेक्षा की जाती है कि किसी विवाद की अनुपस्थिति में भी वह कानून की प्रामाणिक व्याख्या करे। इस प्रकार, कनाडा और भारत में, उच्चतम न्यायालय सांविधानिक प्रश्नों पर परामर्श दे सकता है ताकि किसी कानून को प्रशासनिक रूप से लागू करने से पहले कार्यपालिका सांविधानिक मुद्दों को तय कर दे।

सामान्यतः न्यायालय तभी अपना काम प्रारंभ करता है जब कोई उसके सामने यह शिकायत लेकर जाए कि उस पर अन्याय हुआ है। आम तौर पर न्यायालय कुछ ऐसे अन्य विविध कार्य निष्पादित करते दिखाई देते हैं जिनका स्वरूप मूलतः गैर-न्यायिक होता है। उदाहरण के लिए यदाकदा न्यायालय मृत व्यक्तियों के लाइसेंस (अनुज्ञा) मंजूर करते हैं और रिसीवर (आदाता) नियुक्त करते हैं।

संघ व्यवस्था में न्यायपालिका से महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की अपेक्षा की जाती है। संघ के अंतर्गत केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण होता है। अपने-अपने क्षेत्रों के अंतर्गत केंद्र तथा राज्य सरकारें सर्वोच्च होती

हैं। इसलिए इस पृष्ठभूमि में न्यायालयों को इस बात पर नजर रखनी होती है कि सरकारें अपनी सांविधानिक सीमाओं के अंतर्गत काम करें और एक-दूसरे के अधिकारों का सम्मान करें।

न्यायिक पुनरीक्षण

न्यायिक पुनरीक्षण का सिद्धांत अमरीकी सांविधानिक प्रतिभा की बेजोड़ खोज है। इसके मुताबिक न्यायपालिका कार्यपालिका द्वारा कार्यान्वयन के स्तर पर विधिनिर्माण के कार्य का न्यायिक पुनरीक्षण करती है। न्यायिक पुनरीक्षण संघीय प्रणाली से जुड़ा है, लेकिन इन दोनों के बीच कोई अपरिहार्य संबंध नहीं है।

किसी संविधान में न्यायिक पुनरीक्षण का सिद्धांत स्पष्ट या प्रत्यक्ष रूप में हो सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायिक पुनरीक्षण का सिद्धांत न्यायिक अधिकारों में अंतर्निहित रहता है। इसकी वजह से वहाँ न्यायिक सर्वोच्चता का सिद्धांत विकसित हुआ है। भारत के संविधान की सर्वोच्चता अंतर्निहित है क्योंकि सब सरकारें संविधान के अधिकार के अंतर्गत संचालित होती हैं। अत: स्पष्टत: यदि कोई संस्था संविधान द्वारा निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण करती है तो न्यायालयों के पास ऐसे कार्यों की जाँच करने का अधिकार है। विधायिका या कार्यपालिका का कोई भी कार्य, जो मौलिक अधिकारों वाले अध्याय में अंकित प्रावधानों का उल्लंघन करता हो, अवैध घोषित किया जा सकता है। फिर भी, भारत में न्यायिक पुनरीक्षण का क्षेत्र सीमित है। भारत का उच्चतम न्यायालय किसी कानून की व्याख्या करते समय स्वयं कानून नहीं बनाता। वह केवल उस स्थिति को छोड़कर, जहाँ संविधान ने स्पष्टत: न्यायालय को अधिकार का प्रयोग करने के लिए अधिकृत किया है, किसी कानून के औचित्य के बारे में प्रश्न नहीं उठाता। सामान्यत: वह कानून द्वारा स्थापित कार्यविधि के अनुसार कार्य करता है।

न्यायिक पुनरीक्षण के सिद्धांत की अब कटु आलोचना की जाती है। आलोचकों का आरोप है कि यह न्यायपालिका के स्थान को ऊँचा उठाकर, उसे महाविधायिका बना देता है। आश्चर्य की बात है कि कभी-कभी संयुक्त राज्य अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय पाँच-चार के सामान्य बहुमत से किसी ऐसे कानून को रद्द कर देता है जिसे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि विशाल बहुमत से पारित कर चुके होते हैं। साथ ही, सर्वोच्च न्यायालय के पुनरीक्षण के अधिकार के इस्तेमाल से संयुक्त राज्य अमरीका में प्रगतिशील सामाजिक विधि निर्माण का कार्य बाधित हुआ है।

इन दोषों के बावजूद न्यायिक पुनरीक्षण की संस्था के अपने उपयोग हैं। लिखित संविधान के अंतर्गत, जिसमे सरकार के विभिन्न अंग अधिकार प्राप्त करते हैं, कोई सर्वोच्च निर्णायक यह देखने के लिए होना ही चाहिए कि प्रत्येक अंग संविधान द्वारा निर्धारित अपने क्षेत्र के अंतर्गत काम कर रहा है। न्यायिक पुनरीक्षण विधायिका की ज्यादतियों तथा कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है। संघात्मक व्यवस्था में न्यायिक पुनरीक्षण के महत्वपूर्ण होने का एक और भी कारण है। संघ तथा राज्य सरकारों को संविधान द्वारा निर्धारित क्षमता सीमा में रखने के लिए तथा उनके बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करने के लिए एक ऐसे प्राधिकरण की आवश्यकता है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता

न्यायपालिका की स्वतंत्रता तीन कारकों पर निर्भर करती है :

(1) प्रतिभाशाली व्यक्तियों के लिए न्याय-पालिका में प्रवेश का आकर्षण, (2) इन

व्यक्तियों के चयन की पद्धति, (3) नियुक्त होने पर न्यायाधीशों की स्वतंत्रता की गारंटी। अच्छे वेतन, पद पर स्थायी कार्यकाल तथा सामाजिक प्रतिष्ठा से प्रतिभाशाली व्यक्तियों को न्यायाधीश पद के लिए प्रेरित किया जा सकता है। अधिकांश आधुनिक राज्यों में न्यायाधीश की पदावधि स्थायी होती है। वे "सदाचरण" के आधार पर अपने पद पर बने रहते हैं। वे तब तक अपने पद पर आसीन रह सकते हैं जब तक देश के कानून के अंतर्गत उन्हें दोषी न पाया जाए।

लोकतंत्र का वास्तविक अर्थ है कि सरकार की संस्थाओं पर जनता का नियंत्रण रहे, इसलिए स्पष्टतः न्यायपालिका की पूर्ण स्वतंत्रता असंभव और अवांछनीय मालूम पड़ती है। फिर भी, न्यायिक कार्यों का स्वरूप ही ऐसा होता है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा की जानी चाहिए। न्याय प्रदान करना उसका महत्वपूर्ण कार्य है। न्याय राज्य की आत्मा है और उसे बिना भय या पक्षपात के उपलब्ध कराया जाना चाहिए। अतः जहाँ तक संभव हो, न्यायपालिका को राजनीति से बाहर रखा जाना चाहिए। कानूनों की व्याख्या और न्याय प्रदान करने में न्यायाधीशों को निष्पक्ष और ईमानदार रहना चाहिए। ईमानदारी, निष्ठा और बुद्धिमत्ता ऐसे ऊँचे गुण हैं जिनसे न्यायाधीश को विभूषित होना चाहिए। न्यायपालिका का उचित संगठन अत्यंत आवश्यक है। न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा पदावधि, सरकार की अन्य एजेंसियों से अनेक संबंध, ये और इस प्रकार की बातें न्यायपालिका की स्वतंत्रता और निष्ठा बनाए रखने में महत्वपूर्ण हैं।

न्यायपालिका का संगठन

लोकतंत्र में न्यायपालिका की स्वतंत्रता कई बातों पर निर्भर करती है। न्यायपालिका द्वारा प्राप्त स्वतंत्रता की मात्रा अधिकांशतः न्यायपालिका के गठित किए जाने के तरीके पर निर्भर करती है। आधुनिक राज्यों में न्यायपालिका तीन विभिन्न प्रकारों से गठित की जा सकती है : (1) इसे विधायक द्वारा चुना जाए, (2) इसे जनता द्वारा चुना जाए या (3) इसे कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किया जाए।

जनता द्वारा चुने जाने की प्रणाली संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। इस प्रणाली की स्पष्ट कमजोरी यह है कि आम जनता को इस बात की समझ नहीं होती कि कार्यकुशल न्यायाधीश बनने के लिए किसी व्यक्ति में कौन सी योग्यताएँ होनी चाहिए। लोकप्रियता के आधार पर अयोग्य न्यायाधीश निर्वाचित हो सकते हैं। इस प्रकार चुने जाकर वे जनता से वाहवाही चाहते हैं और इस तरह से अयोग्य किस्म के न्यायाधीश सिद्ध हो सकते हैं। विधायिका द्वारा न्यायाधीशों के निर्वाचन से दलीय राजनीति का सूत्रपात होता है। यह पद्धति सत्य तथा तर्क जैसे गुणों को निरुत्साहित करती है। ऐसी स्थिति में न्यायपालिका की कार्यप्रणाली विधायिका के नियंत्रणाधीन हो सकती है। विधायिका द्वारा न्यायाधीशों को चुना जाना बेहतर होता है पर ऐसी प्रणाली में भी उपरोक्त दोष देखे जाते हैं। विधायिका द्वारा न्यायाधीशों के चयन की प्रणाली में दलगत राजनीति का स्थान महत्वपूर्ण हो जाता है। इस परिस्थिति में हो सकता है कि न्यायपालिका विधायिका के नियंत्रण में काम करने लगे। नियुक्ति के बाद कार्यकाल की रक्षा आदि की सुरक्षा रहे तो कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की प्रणाली व्यावहारिक रूप में सबसे अधिक संतोषजनक पाई गई है। अधिकतर राज्यों में इसी प्रणाली को अपनाया गया है।

पद की अवधि

न्यायाधीशों की पदावधि के बारे में मतभेद है। अधिकांश अमरीकी राज्यों में न्यायाधीश सीमित अवधि के लिए पद पर रहते हैं। तथापि, संयुक्त राज्य अमरीका के संघीय न्यायाधीश अपने अच्छे आचरण के दौरान पद पर बने रहते हैं। यद्यपि भारतीय संविधान जीवन-पर्यंत पदावधि के लिए प्रावधान नहीं करता, पर मौजूदा प्रावधान लंबी पदावधि प्रदान करता है। हमारे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश 65वर्ष की आयु तक पदासीन रहते हैं और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के लिए यह आयु-सीमा 62 वर्ष है। लंबे न्यायिक कार्यकाल से स्वभावतः न्यायाधीश अनुभव संचित करते हैं और उन्हें न्यायिक नजीरों (आदर्श उदाहरणों) की गंभीर जानकारी प्राप्त हो जाती है।

पदावधि की सुरक्षा न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है। अतः न्यायाधीशों को छोटी-छोटी बातों पर सेवा से नहीं हट जाना चाहिए। यदि वे कार्यपालिका की सनकों के शिकार हों तो वे न्याय की अपेक्षाएँ पूरी नहीं कर सकते और सुरक्षा पाने के लिए उनको कार्यपालिका पर आश्रित रहना होगा। इस प्रकार ब्रिटेन में अच्छी पदावधि का मतलब होता है कि केवल संसद के दोनों सदनों द्वारा प्रस्ताव किए जाने पर ही राजा न्यायाधीश को निकाल सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका में सामान्यतः न्यायाधीश को महाभियोग द्वारा ही सेवा से हटाया जा सकता है। भारत में उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय का न्यायाधीश यदि बुरा आचरण करता पाया जाए या अयोग्य ठहराया जाए, तो उसे हटाया जा सकता है।

न्यायिक स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए तथा शक्ति के संभावित दुरुपयोग को समाप्त करने के लिए, यह उचित होगा कि न्यायाधीश सेवा-निवृत्ति के बाद किसी भी न्यायालय में वकालत न करें। सेवा-निवृत्ति के बाद वकालत करने वाला न्यायाधीश संभवतः सेवा-काल में निष्पक्ष न्याय नहीं कर सकता। इससे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को सेवा-निवृत्ति के पश्चात् न्यायालयों में वकालत करने की अनुमति नहीं है।

योग्यताएँ

न्यायिक कार्य की प्रवृत्ति ऐसी है कि उसके लिए प्राविधिक क्षमता होनी चाहिए। न्यायाधीशों में अपेक्षित शैक्षिक योग्यताएँ होनी चाहिए। लगभग सभी देशों में सामान्यतः वकालत के पेशे के ख्याति प्राप्त व्यक्तियों को न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान में प्रावधान है कि उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश बनने के लिए किसी व्यक्ति को न्यूनतम पांच वर्ष तक उक्त न्यायालय का न्यायाधीश रहना चाहिए या संबंधित व्यक्ति को राष्ट्रपति की राय में ख्याति प्राप्त विधिवेत्ता होना चाहिए।

पर्याप्त वेतन

न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीश को पर्याप्त वेतन मिले। यदि आकर्षक वेतन नहीं होगा तो समुचित योग्यताधारी और कार्यकुशल व्यक्ति न्यायाधीश बनने को तैयार नहीं होंगे। साथ ही, भरणपोषण के लिए वेतन पूरा नहीं पड़ेगा तो न्यायाधीश भ्रष्टाचार के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं। इस प्रकार भारत के संविधान ने उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का वेतन 10,000 रु. प्रति माह और अन्य न्यायाधीशों को 9,000 रु. प्रति माह नियत किया है। साथ ही, न्यायाधीश के वेतन, भत्तों

तथा अन्य अधिकारों तथा विशेषाधिकारों में उसके हित के विपरीत, आपात स्थिति के अतिरिक्त परिवर्तन नहीं किया जा सकता।.

कार्यपालिका के अतिक्रमण के विरुद्ध बचाव

न्याय प्रदान करना (जो न्यायपालिका का महत्वपूर्ण प्रकार्य है) अधिकांशतः इस बात पर निर्भर करता है कि न्यायपालिका कहाँ तक कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त है। न्यायिक कार्य का उद्देश्य नागरिकों को कार्यपालिका के अतिक्रमण से बचाना है। भारत में ब्रिटिश शासन के अंतर्गत, जिला मजिस्ट्रेट की भूमिका से यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यह कार्यपालिका तथा न्यायाधीश दोनों के कार्यों को निष्पादित करेगा। अधीनस्थ न्यायाधीश भी, जो अधिकांश फौजदारी मामलों की सुनवाई करते थे, सीधे जिला मजिस्ट्रेट के कार्यपालिका प्राधिकार के नियंत्रण में रहते थे। ऐसी स्थितियों में न्यायाधीश न्याय के तराजू के पलड़ों को संतुलित कैसे रख सकते थे।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए भारत के संविधान ने विशेष प्रयत्न किया है। संविधान ने उच्चतम न्यायालय को अधिकृत किया कि वह अपने कर्मचारियों, अधिकारियों आदि की स्थापना स्वयं करे और उन पर अपना ही नियंत्रण रहने दे। अतः उच्चतम न्यायालय के अधिकारी-कर्मचारी मुख्य न्यायाधीश या अन्य न्यायाधीश द्वारा (जिसे मुख्य न्यायाधीश द्वारा यह काम सौंपा गया हो) नियुक्त किए जाते हैं। मुख्य न्यायालय इन अधिकारियों, कर्मचारियों की सेवा शर्तें निर्धारित करता है। साथ ही, न्यायालय की स्थापना को बनाए रखने का सारा खर्च भारत की समेकित विधि के खाते से किया जाता है। न्यायालय की स्वतंत्रता के लिए संविधान ने यह भी सुनिश्चित कर दिया है कि शासकीय हैसियत से न्यायाधीशों के सब कार्यकलाप और निर्णय आलोचना से परे रहेंगे।

चूँकि न्यायपालिका का एक मुख्य कार्य कार्यपालिका के सीमोल्लंघन और अतिक्रमण से नागरिकों का बचाव करना है, इसलिए उसे कार्यपालिका से पृथक अवश्य किया जाना चाहिए। ब्रिटेन और भारत की तरह कार्यपालिका को भारत में न्यायाधीशों की नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त है। फिर भी न्यायाधीशों की सेवाएँ समाप्त करने का अधिकार कार्यपालिका को कदापि नहीं मिलना चाहिए।

कार्यपालिका को कभी-कभी न्यायाधीशों से परामर्श लेने की अनुमति मिली है और वह सांविधानिक प्रश्नों पर न्यायालयों का परामर्श प्राप्त कर सकती है। उदाहरण के लिए, भारतीय संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति के पास उच्चतम न्यायालय से परामर्श लेने का अधिकार है। आलोचकों का मत है कि ऐसे प्रावधान कार्यपालिका को, न्यायपालिका के समीप लाते हैं और कार्यपालिका अनुचित ढंग से सशक्त बनती है। फिर भी आधुनिक समय में, कार्यपालिका को, जिस पर भारी जिम्मेदारियाँ लदी होती हैं, राजनीतिक प्रक्रियाओं के सफल कार्यान्वयन के लिए न्यायालयों से परामर्श करना ही पड़ता है।

यह सर्वमान्य सार्वजनिक कानून है कि कार्यपालिका के प्रधान को अपने पद की अवधि के दौरान किसी न्यायालय या न्यायाधीश के अधिकार क्षेत्र से छूट मिली होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति न्यायिक नियंत्रण से परे हैं। पर जब सीनेट (उच्च सदन) महाभियोग के प्रकरण में राष्ट्रपति के विरुद्ध सुनवाई के विशेष प्रयोजन के लिए न्यायालय का रूप ले लेती है, तो राष्ट्रपति सीनेट के प्रति उत्तरदायी होता है। लेकिन सार्वजनिक पद को छोड़ने पर ज्यों ही वह सामान्य नागरिक

बन जाता है, वह निजी व्यक्ति के रूप में न्यायपालिका के नियंत्रण के आधीन हो जाता है। उस समय राष्ट्रपति द्वारा जारी आदेशों और विनियमों की छानबीन की जा सकती है और कोई व्यक्ति क्षतिपूर्ति के लिए उनकी वैधता को चुनौती देते हुए न्यायालय में आवेदन करता है ऐसी हालत में उनमें से किसी भी आदेश या विनियम को अवैध घोषित किया जा सकता है। परंतु, कार्यपालिका अध्यक्ष के अधीनस्थ अधिकारी, न्यायपालिका के क्षेत्राधिकार से मुक्त नहीं हैं। यदि वे संविधान के प्रावधानों के उल्लंघन के दोषी होते हैं तो न्यायालय उन पर पूर्णरूप से नियंत्रण रख सकता है। यहाँ तक कि राष्ट्रपति के आदेशानुसार उनके द्वारा कार्य किए होने का तथ्य उनके पक्ष में बचाव के तौर पर नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चूँकि कार्यपालिका अध्यक्ष को, अधिकांशतः अपने अधीनस्थों के माध्यम से प्रशासन चलाना होता है, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से न्यायपालिका कार्यपालिका के कार्यकलापों पर काफी हद तक नियंत्रण रखती है।

कभी-कभी इस बात की ओर इशारा किया जाता है कि कार्यपालिका को क्षमादान का विशेषाधिकार उपलब्ध कराए जाने से उसकी न्यायिक स्वतंत्रता का उल्लंघन होता है। उदाहरण के लिए, भारत में क्षमादान आदि के लिए स्वीकृति देने का अधिकार राष्ट्रपति और राज्य के राज्यपाल को दिया जाता है।

यह मत प्रकट किया गया है कि कार्यपालिका को सर्वोच्च अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करना उसे निरंकुशता की ओर ले जा सकता है। यह तर्क दिया गया है कि यदि कार्यपालिका पर न्यायपालिका का नियंत्रण रहता है तो कार्यपालिका की कार्यकुशलता में गिरावट आ सकती है। यदि कार्यों के पूर्ण वितरण की कोशिश की जाए तो न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के बीच अनावश्यक संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। अतः जरूरत इस बात की है कि इन दोनों के बीच संतुलित साझेदारी रहे।

न्यायपालिका तथा विधायिका

कार्य पार्थक्य के सिद्धांत के अनुसार विधायिका कानून बनाती है और न्यायपालिका उनकी व्याख्या करती है और विशिष्ट मामलों में उन कानूनों का प्रयोग करती है। परंतु कभी-कभी एक अंग दूसरे अंग के कार्यों को हथिया लेता है। और इस तरह उस अंग के कार्यकलापों पर थोड़ा बहुत नियंत्रण करने वाला प्रभाव छोड़ता है।

कुछ देशों में न्यायपालिका को विधायिका द्वारा पारित कानूनों को उस स्थिति में रद्द घोषित करने का अधिकार दिया गया है जब वे कानून लिखित संविधान द्वारा विधायिका में निहित अधिकारों की सीमा लांघते पाए जाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायपालिका वास्तव में संविधान की प्रहरी है। लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस में विधायिका द्वारा निर्मित किसी कानून को निम्न न्यायालयों द्वारा अवैध नहीं घोषित किया जा सकता, क्योंकि उन देशों में जनता द्वारा विधायिका के माध्यम से व्यक्त राजनीतिक प्रभुसत्ता को अकाट्य (अर्थात् उसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता) माना गया है। साथ ही, कानूनों की व्याख्या द्वारा और विशिष्ट प्रकरणों में उन्हें लागू करने से न्यायपालिका ऐसे न्यायिक मतों तथा परंपराओं का सृजन करती है जिन्हें वस्तुतः कानून ही माना जाता है।

विधायिका न्यायपालिका के कुछ प्रकार्यों का निष्पादन करती है। ब्रिटेन में उच्च सदन, **हाउस आफ लार्ड्स**, सर्वोच्च अपीली न्यायालय के तौर पर काम करता है। संयुक्त राज्य अमरीका में सीनेट विधायिका के निम्न सदन द्वारा दोषी बताए

गए कार्यपालिका कर्मचारियों की जाँच की सुनवाई के लिए अपने को न्यायाधिकरण में गठित कर लेती है।

सामान्यतया, विधायी प्राधिकार के क्षेत्र को परिभाषित करने वाले लिखित संविधान के अंतर्गत न्यायपालिका ऐसे प्राधिकार की सीमाएँ अंकित करने के लिए अधिकृत होती है। दूसरी ओर, किसी संघ में न्यायपालिका, जो संविधान की प्रहरी होती है, संविधान के अंतर्गत विभिन्न प्राधिकरणों की क्षमता के क्षेत्र को निर्धारित करती हैं। संघ में न्यायालयों की सर्वोच्चता के जो भी गुण या खूबियाँ हों, एकात्मक राज्य में न्यायपालिका को विधायिका की इच्छा को सदा ठुकराने के लिए अधिकार नहीं प्राप्त होने चाहिए। लिखित संविधान बेशक अपने बनाए जाने के समय की भावना को प्रतिबिंबित करेगा। परिस्थितियों में बदलाव के अनुसार कानून बदलने के अवसर से विधायिका को वंचित करना प्रगति के मार्ग में बाधा डालना है।

अभ्यास

निबंध रूप में

1. न्यायपालिका की स्वतंत्रता से आप क्या समझते हैं? इसे कैसे सुरक्षित किया जा सकता है ?
2. न्यायपालिका के संगठन की भिन्न-भिन्न प्रणालियों की चर्चा कीजिए।
3. आधुनिक राज्य में न्यायपालिका के तीन महत्वपूर्ण कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. न्यायिक पुनरीक्षण के किन्हीं दो गुणों की व्याख्या कीजिए।
5. निम्नांकित के पारस्परिक संबंधों पर चर्चा कीजिए:

    (क) न्यायपालिका तथा कार्यपालिका

    (ख) न्यायपालिका तथा विधायिका

अध्याय 8

भारत की न्यायपालिका

भारत की संघीय व्यवस्था में न्यायपालिका का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह केंद्र और राज्यों के बीच एक विवाचक (मध्यस्थ) के रूप में भी कार्य करती है। पर दूसरी संघीय व्यवस्थाओं के विपरीत भारतीय न्याय व्यवस्था इकहरी और एकीकृत न्याय व्यवस्था है। इसके सर्वोच्च शिखर पर भारत का उच्चतम न्यायालय है। राज्य स्तर पर उच्च न्यायालय और उसके अधीनस्थ अन्य न्यायालय हैं।

उच्चतम न्यायालय

भारत में न्यायपालिका के शीर्ष पर भारत का उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) है जिसमें भारत का मुख्य न्यायाधीश तथा राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त 25 अन्य न्यायाधीश होते हैं। संसद को न्यायाधीशों की संख्या निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है। यह देश में सर्वोच्च तथा अंतिम अपील का न्यायालय है।

योग्यताएँ तथा वेतन आदि

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने के बाद नियुक्त किए जाते हैं और वे 65 वर्ष की आयु तक पद धारण करते हैं।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के तौर पर नियुक्ति के लिए किसी व्यक्ति को भारत का नागरिक होना चाहिए। वह न्यूनतम पाँच वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय का या लगातार न्यूनतम 10 वर्ष तक दो या दो से अधिक ऐसे न्यायालयों का न्यायाधीश रह चुका हो या वह राष्ट्रपति की राय में ख्याति प्राप्त विधिवेत्ता हो। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी तदर्थ न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करने का प्रावधान किया गया है। भारत का मुख्य न्यायाधीश, किसी भी समय राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने का अनुरोध कर सकता है। संविधान उच्चतम न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश द्वारा किसी

> भारत के वर्तमान मुख्य न्यायाधीश और पूर्ववर्ती दो मुख्य न्यायाधीशों के नाम बताइए।

न्यायालय में या भारत के अंदर अन्य किसी पाधिकरण के सामने वकालत किए जाने पर रोक लगाता है। भारत का मुख्य न्यायाधीश 10,000 रु. प्रति माह और उच्चतम न्यायालय के दूसरे न्यायाधीश 9000 रु. प्रति माह वेतन पाते हैं। इसके अतिरिक्त उनको पदानुसार वेतन भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ भी उपलब्ध होती हैं।

पद से हटाया जाना

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा पद से तभी हटाए जा सकते हैं जबकि संसद के प्रत्येक सदन द्वारा अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा, किसी न्यायाधीश का साबित कदाचार या असमर्थता संबंधी समावेदन राष्ट्रपति के समक्ष रखा हो, और राष्ट्रपति उनको पद से हटाए जाने का आदेश देता है। भारत में उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को अभी तक इस प्रकार हटाए जाने की कोई नजीर नहीं है।

क्षेत्राधिकार

भारत के उच्चतम न्यायालय के मौलिक, अपीली तथा परामर्शी क्षेत्राधिकार होते हैं।

इसका पूर्णत: **मौलिक क्षेत्राधिकार** निम्नांकित विवादों से संबंध रखता है : उच्चतम न्यायालय का यह मौलिक क्षेत्राधिकार ऐसे किसी विवाद से संबंधित है, जिसमें विधि का या तथ्य का कोई प्रश्न अन्तर्निहित है, जिस पर किसी विधिक अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर करता है,

(1) भारत सरकार तथा एक या अधिक संघ के राज्यों के बीच,

(2) एक ओर भारत सरकार और किसी राज्य या राज्यों और दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच,

(3) परस्पर दो या अधिक राज्यों के बीच

एक ऐसा मामला बताइए जब भारत के राष्ट्रपति ने उच्चतम न्यायालय की सलाह मांगी हो।

परंतु, ऐसे विवाद उच्चतम **न्यायालय के** मौलिक क्षेत्राधिकार के **अंदर नहीं** शामिल किए जाते जो पूर्ववर्ती भारतीय रियासतों के साथ हुई संधियों से या किसी ऐसी रियासत द्वारा हस्तांतरित संधि से उपजे हों।

उच्चतम न्यायालय के **अपीली क्षेत्राधिकार** के अंतर्गत तीन प्रकार के प्रकरण आते हैं: (1) सांविधानिक, (2) दीवानी, और (3) फौजदारी। सांविधानिक मामलों में, उच्च न्यायालय के किसी निर्णय पर, चाहे वह सिविल (दीवानी) या फौजदारी में से किसी भी कार्यवाही से संबंधित हो उच्चतम न्यायालय में अपील दायर की जा सकती है, बशर्ते उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस मामले का संबंध संविधान की व्याख्या से जुड़े किसी वास्तविक कानूनी नुक्ते से है। **सिविल (दीवानी)** मामलों में, तब उच्च न्यायालय के किसी निर्णय, डिगरी या अंतिम आदेश पर उच्चतम न्यायालय के सामने अपील की जा सकती है, जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस अपील से वास्तविक कानूनी नुक्ता जुड़ा है। **फौजदारी** प्रकरणों में, तब उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय के सामने अपील की जा सकती है, जब उच्च न्यायालय ने (क) अपील किए जाने पर किसी अभियुक्त की दोष मुक्ति के आदेश को उलट दिया हो, और उसको मृत्यु दंड दे दिया है या (ख) अपने प्राधिकार के अधीनस्थ किसी न्यायालय से किसी मामले को अपने सामने

सुनवाई के लिए मँगा लिया हो और ऐसी सुनवाई में दोषी व्यक्ति को सजा देकर मृत्युदंड दे दिया हो, कि वह मामला उच्चतम न्यायालय के सामने अपील किए जाने के लिए उपयुक्त है। स्वयं उच्चतम न्यायालय भारत के भूभाग में स्थित किसी न्यायालय या प्राधिकरण के निर्णय पर अपील करने की अनुमति प्रदान कर सकता है। संसद विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय के अपीली क्षेत्राधिकार को बढ़ा सकती है।

संविधान ने उच्चतम न्यायालय को कुछ **परामर्शी कार्य** भी दिए हैं। राष्ट्रपति कोई ऐसा कानूनी प्रश्न या तथ्य उसके सामने प्रस्तुत कर सकता है जो उसकी राय मालूम किए जाने की दृष्टि से बहुत सार्वजनिक महत्व वाला है। इस क्षेत्राधिकार के अंतर्गत वे विवाद भी सर्वोच्च न्यायालय के सामने उसकी राय मालूम करने के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनके दायरे में पूर्ववर्ती भारतीय रियासतों से हुई संधियों और समझौतों की व्याख्या आती है।

उच्चतम न्यायालय का एक महत्वपूर्ण कार्य **संविधान के रक्षक** के रूप में काम करना है। संविधान ने सरकार के प्रत्येक अंग के कार्यों को स्पष्टतः परिभाषित कर दिया है और सरकार के प्रत्येक अंग को संविधान के प्रावधानों के अनुसार कार्य करना होता है। संसद या राज्य विधायिका द्वारा पारित प्रत्येक कानून को संविधान प्रावधानों के अनुरूप होना चाहिए, उस पर अंकुश लगाने के लिए उच्चतम न्यायालय को **न्यायिक पुनरीक्षण** का अधिकार है। इस अधिकार के अंतर्गत वह विधायी विधि तथा उसकी सांविधानिकता की जाँच कर सकता है। यदि कोई कानून संविधान का उल्लंघन करता है तो उच्चतम न्यायालय उसे अवैध घोषित कर सकता है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय कार्यपालिका के किसी आदेश या विधायिका के किसी कानून की वैधता की जाँच कर सकता है। इसी अर्थ में इसे संविधान का रक्षक कहा जाता है।

उच्चतम न्यायालय भारत के **नागरिकों की स्वतंत्रता और मौलिक अधिकारों का रक्षक है।** यदि किसी विधायिका द्वारा पारित कोई कानून संविधान में नागरिकों को प्रदत्त मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करता है, तो वह उसे अवैध घोषित कर सकता है। उच्चतम न्यायालय मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए **बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, निषेध, अधिकार-पृच्छा** तथा **उत्प्रेक्षण-लेख** के रूप में रिट (विशेषादेश) जारी कर सकता है। उच्चतम न्यायालय को विधायिका द्वारा पारित कानूनों का पुनरीक्षण करने और संविधान के किसी प्रावधान का उनके द्वारा उल्लंघन होने पर, उन्हें असांविधानिक घोषित करने का अधिकार प्राप्त है। यह उच्चतम न्यायालय का ही कार्य है कि वह संविधान के प्रावधानों का अर्थ घोषित करे। उच्चतम न्यायालय को अपने द्वारा सुनाए गए निर्णय या दिए गए आदेश का **पुनरावलोकन** करने की शक्ति भी हासिल है। दूसरे शब्दों में, उच्चतम न्यायालय **संविधान का प्रहरी तथा** रक्षक है और उसकी व्याख्या के लिए सर्वोच्च मंच है।

उच्चतम न्यायालय **अभिलेख न्यायालय** है। इसके निर्णयों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को साक्ष्य के प्रयोजन से किसी न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है। उन्हें नज़ीर कहा जाता है। किसी न्यायालय में उन्हें चुनौती नहीं दी जा सकती। उच्चतम न्यायालय को अपनी मान हानि के लिए दंडित करने का अधिकार भी मिला है।

उच्च न्यायालय

राज्य स्तर पर उच्च न्यायालय सबसे बड़ा

न्यायालय होता है। इसमें मुख्य न्यायाधीश और कुछ दूसरे न्यायाधीश होते हैं। न्यायाधीशों की संख्या भारत का राष्ट्रपति समय-समय पर निर्धारित करता है।

आंध्रप्रदेश, असम, नागालैंड, मेघालय, मणिपुर और त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम, बिहार, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक, केरल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, पंजाब (हरियाणा तथा चंडीगढ़ संघ राज्य क्षेत्र सहित), राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा सिक्किम में से प्रत्येक में उच्च न्यायालय है। बंबई उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार गोआ तक फैला है। दिल्ली के लिए अलग उच्च न्यायालय है। अंडमान और नीकोबार द्वीपसमूह के लिए कलकत्ता उच्च न्यायालय, पांडिचेरी के लिए मद्रास उच्च न्यायालय और लक्षद्वीप के लिए केरल उच्च न्यायालय सर्वोच्च न्यायिक प्राधिकरण है। दादरा और नगर हवेली के लिए उच्च न्यायालय का काम बंबई स्थित उच्च न्यायालय ही करता है।

उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा संबंधित राज्य के राज्यपाल के परामर्श से नियुक्त करता है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए कार्य विधि इस बात के अलावा एक जैसी है कि संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से भी सलाह ली जाती है। वे 62 वर्ष की उम्र पूरी होने तक इस पद पर बने रह सकते हैं और उन्हें उसी प्रकार पद से हटाया जा सकता है जैसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को।

योग्यताएँ तथा वेतन आदि

उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किए जाने के लिए व्यक्ति की कुछ विशेष योग्यताएँ होनी चाहिए। उसे भारत का नागरिक होना चाहिए, उसने भारत के भूभाग के अंदर न्यूनतम 10 वर्ष तक न्यायिक पद को धारण किया हो या वह न्यूनतम 10 वर्ष तक उच्च न्यायालय में या एक या एक से अधिक न्यायालयों में वकील रह चुका हो या, राष्ट्रपति के मतानुसार वह ख्याति प्राप्त विधिवेत्ता हो।

राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 9000 रुपये प्रतिमाह और अन्य न्यायाधीशों को 8000 रुपये प्रतिमाह वेतन के रूप में और इसके अलावा अन्य कई भत्ते और सुविधाएँ मिलती हैं। न्यायाधीशों की सेवा शर्तें; वित्तीय आपातस्थिति की अवधि को छोड़कर, उनके सेवाकाल में उनके हितों के विपरीत परिवर्तित नहीं की जा सकतीं। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की तरह उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पूर्णतः सेवा सुरक्षा प्रदान की गई है। उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श लेकर एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानांतरित कर सकता है।

क्षेत्राधिकार

रिट संबंधी मामलों में उच्च न्यायालय का मौलिक क्षेत्राधिकार है। उच्च न्यायालय के पास रिट जारी करने की शक्ति है, इसे उन राज्य क्षेत्रों में सर्वत्र, जिनके संबंध में वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है, किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को या समुचित मामलों में किसी सरकार को ऐसे निर्देश, आदेश या रिट जारी करने की शक्ति है। बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण, ये रिट नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए जारी किए जाते हैं।

उच्च न्यायालय दो प्रकार के कार्य निष्पादित

करते हैं : न्यायिक कार्य तथा प्रशासनिक कार्य। न्यायिक कार्यों के संबंध में, उच्च न्यायालय को राजस्व तथा उसके संग्रह के और मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए मौलिक तथा अपीली क्षेत्राधिकार मिले हैं। सब उच्च न्यायालयों को अपने ढंग से संबंधित राज्य में निम्न न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध सब प्रकार के मामलों पर अपीली क्षेत्राधिकार मिला है।

आमतौर पर दीवानी के मामले उच्च न्यायालयों में आरंभ नहीं होते। परंतु कुछ अपवाद की स्थिति में वे इन पर विचार करना स्वीकार कर सकते हैं।

संसद सदस्य या राज्य विधान सभा के सदस्य या स्थानीय स्वायत्तशासी निकायों के सदस्यों के चुनावों को चुनौती देने वाली चुनाव याचिकाएँ उच्च न्यायालय में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

उच्च न्यायालयों को निचले न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध दीवानी तथा आपराधिक, दोनों मामलों में अपीली क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। वे राजस्व के मामलों पर भी निर्णय दे सकते हैं। यदि अभियुक्त को सात वर्ष या अधिक के लिए कैद की सजा दी गई हो, तो सत्र न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध अपील प्रस्तुत की जा सकती है। उच्च न्यायालय की पुष्टि के बिना सत्र न्यायाधीश द्वारा दिए गए मृत्यु दण्ड (मौत की सजा) को कार्यान्वित नहीं किया जाता। अपने क्षेत्राधिकार के अंतर्गत सब न्यायालयों और अधिकरणों पर उच्च न्यायालय को अधीक्षण के अधिकार प्राप्त हैं।

राज्य में सब न्यायालय तथा अधिकरण उच्च न्यायालय के अधीन कार्य करते हैं। उच्च न्यायालय यह सुनिश्चित करता है कि अधीनस्थ न्यायालय तथा अधिकरण अपने क्षेत्राधिकार के परे अधिकारों का प्रयोग न करें। जिला तथा सत्र न्यायाधीशों की नियुक्तियों तथा पदोन्नतियों में तथा राज्य की न्याय सेवाओं में अन्य नियुक्तियों के बारे में उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सलाह ली जाती है। उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों पर न्यायिक तथा प्रशासनिक, अधीक्षण करता है। उच्च न्यायालय राज्य के किसी कानून या कार्यपालिका के किसी आदेश को, यदि संविधान के प्रावधानों के विरुद्ध पाता है या यदि वह समझता है कि उनसे लोगों के मौलिक अधिकार का हनन होता है, तो उसे अवैध घोषित कर सकता है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय **अभिलेख न्यायालय** है। अधीनस्थ न्यायालयों के लिए उच्च न्यायालयों के निर्णयों का पालन करना अनिवार्य है। उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों तथा निर्णयों का उल्लेख भविष्य के सब मामलों में होता है। उसे न्यायालय की मानहानि के लिए दण्ड देने का अधिकार है।

राज्य में न्यायिक व्यवस्था के शीर्ष पर उच्च न्यायालय है। वह सब अधीनस्थ न्यायालयों के कामकाज का निरीक्षण करता है और कार्य के संचालन के लिए नियम तथा विनियम बनाता है। वह अधीनस्थ न्यायालयों के अभिलेख (रिकार्ड) की जाँच कर सकता है। परंतु, उसे सैनिक कानून के अंतर्गत किसी न्यायालय या अधिकरण पर अधीक्षण करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता।

अधीनस्थ न्यायालय

अधीनस्थ न्यायालयों का संगठन देश भर में आम तौर पर समान है। प्रत्येक जिले में तीन प्रकार के न्यायालय होते हैं। दीवानी (सिविल) न्यायालय, फौजदारी (अपराधिक, दण्डात्मक) न्यायालय, भू-राजस्व-न्यायालय। वे राज्य के उच्च न्यायालय की देखरेख (अधीक्षण) तथा नियंत्रण

के अंतर्गत कार्य करते हैं।

जिले के सर्वोच्च न्यायालय को जिला न्यायाधीश का न्यायालय कहा जाता है। जिला न्यायाधीश दीवानी और फौजदारी दोनों मामलों पर निर्णय देता है। दीवानी मामलों पर निर्णय देते समय इस न्यायाधीश को जिला न्यायाधीश और फौजदारी मामलों पर निर्णय देते समय सत्र न्यायाधीश कहा जाता है। राज्यपाल उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श लेकर इसे नियुक्त करता है। जिला न्यायालय में उप-न्यायाधीशों (सब-जज) के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनी जाती हैं। यह न्यायालय संपत्ति, विवाह, विवाह-विच्छेद (तलाक) के विवादों संबंधी मामलों की सुनवाई भी करता है। अल्पवयस्कों (नाबालिग) और पागलों के अभिभावकों की नियुक्तियों जैसे मामलों पर भी इसका क्षेत्राधिकार है। जिला न्यायालय के अलावा, उप-न्यायाधीशों के न्यायालय, मुंसिफ न्यायालय और लघु वाद न्यायालय (कोर्ट आफ स्माल कॉज़ेज) भी होते हैं। जिले में फौजदारी मामलों पर सुनवाई सत्र न्यायाधीश के न्यायालय में होती है क्योंकि यह न्यायालय कानून द्वारा स्वीकृत कोई भी दण्ड देने में सक्षम होता है। **सत्र न्यायालय में अधीनस्थ फौजदारी न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध इसी में अपील सुनी जाती है।** जिला तथा सत्र न्यायालय के नीचे प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट के न्यायालय होते हैं। दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, और मद्रास जैसे महानगरों में इन्हें मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट कहते हैं। इनके अलावा द्वितीय श्रेणी तथा तृतीय श्रेणी मजिस्ट्रेटों के न्यायालय भी होते हैं।

राजस्व संबंधी न्यायालय

भू-राजस्व सरकार की आय का एक प्रमुख स्रोत है। इस प्रकार के न्यायालयों के शीर्ष में हैं राजस्व बोर्ड। राजस्व बोर्ड के अधीन आयुक्त न्यायालय, कलेक्टर का न्यायालय, उसके अधीन तहसीलदार तथा नायब तहसीलदार का न्यायालय है। प्रत्येक जिले में भू-राजस्व संबंधी पृथक न्याय व्यवस्था होती है। प्रत्येक भू-राजस्व संबंधी मामला सबसे पहले तहसीलदार के न्यायालय में पेश किया जाता है। इस न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध जिलाधीश के न्यायालय अथवा डिप्टी कमिश्नर के न्यायालय में अपील की जा सकती है। डिप्टी कमिश्नर के कोर्ट के निर्णय के विरुद्ध अपील कमिश्नर के न्यायालय में की जा सकती है। भू-राजस्व संबंधी न्यायालयों के शीर्ष पर बोर्ड आफ रेवेन्यू है जो अधीनस्थ न्यायालयों के विरुद्ध अपील सुनता है।

लोक अदालत तथा जनहित संबंधी न्याय व्यवस्था

गरीब और दलित लोगों को तेजी से और आसानी से न्याय दिलाने के लिए हाल में हमारे देश में कुछ नए कार्यक्रम शुरू किये गए हैं : कानूनी सहायता, लोक अदालत, और जनहितार्थ न्याय। लोक अदालतों की योजना के पीछे बुनियादी विचार यह है कि न्याय दिलाने में होने वाली देरी खत्म हो और जितनी जल्दी हो सके, बरसों अनिर्णीत मामलों को निपटाया जाए। लोक अदालतें ऐसे मामलों को तय करती हैं जो अभी अदालत तक पहुँचे हों या अदालतों में अनिर्णीत पड़े हों। जनवरी, 1989 में दिल्ली में लगी लोक अदालत ने सिर्फ एक ही दिन में 531 मामलों पर निर्णय दे दिए थे।

उच्चतम न्यायालय ने भी जनहितार्थ न्याय के संबंध में नया कदम उठाया है। इसके द्वारा या पोस्ट कार्ड पर साधारण आवेदन पत्र लिखकर भी कोई व्यक्ति कहीं से अन्याय की शिकायत के बारे में आवेदन करे तो शिकायत पंजीकृत की जाती है और आवश्यक आदेश जारी किए जा सकते हैं।

इस योजना के अंतर्गत कमजोर वर्गों के लोगों, बंधुवा मज़दूरों, स्त्रियों और बच्चों की शिकायतों को समुचित महत्व दिया गया है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता

लोगों के अधिकारों और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका का होना आवश्यक है। भारत के संविधान में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए तथा न्यायाधीशों को राजनीतिक और अन्य प्रभावों से मुक्त रखने के लिए प्रावधान किया गया है। कार्यपालिका निर्धारित योग्यताओं और कानूनी सक्षमता के आधार पर न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ करती है। कार्यपालिका को चलाने वाले व्यक्तियों की सनक से ही उन्हें पदों से नहीं हटाया जा सकता है। उन्हें नियत अवधि के लिए नियुक्त किया जाता है। संसद या राज्य विधानसभाओं में तब तक किसी न्यायाधीश के आचरण के बारे में चर्चा नहीं की जा सकती, जब तक सदन को उसे पद से हटाने संबंधी प्रस्ताव पर ही विचार न करना हो। न्यायाधीशों के वेतन और भत्तों के बारे में संसद या संबंधित विधानसभा से मंजूरी नहीं चाहिए। इस बात का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि न्यायाधीशों के चाल-चलन और काम करने के बारे में आलोचना या टीका-टिप्पणी न हो और वे न्याय देने का काम पूरी स्वतंत्रता और निर्भीकता से कर सकें। उनके वेतन और भत्तों में बदलाव और उनके हितों के विरुद्ध कटौती तब तक नहीं की जा सकती, जब तक देश में आपात स्थिति न लागू हो। आपात स्थिति के दौरान राष्ट्रपति को इनके वेतनों और भत्तों में बदलाव करने का अधिकार है।

महान्यायवादी

राष्ट्रपति कानूनी मामलों पर भारत सरकार को सलाह देने और समय-समय पर सौंपे गए कानूनी किस्म के अन्य कर्त्तव्यभारों को निष्पादित करने के लिए महान्यायवादी के पद पर किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति करता है जिसके पास उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के लिए अपेक्षित योग्यताएँ हों। उसे किसी भी सदन में बोलने का और अन्यथा कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार है। वह किसी संसदीय समिति का सदस्य भी बन सकता है पर वह उस समिति में मतदान का अधिकारी नहीं है।

नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक

राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक नाम का एक बड़ा अधिकारी होता है, उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की तरह की प्रक्रिया से और वैसे ही आधार पर पद से हटाया जा सकता है। वह केंद्र तथा राज्य सरकारों की लेखा पर सामान्य नियंत्रण रखता है। संसद द्वारा बनाए गए कानून के अंतर्गत उसके कर्त्तव्यभारों तथा अधिकारों का निर्धारण हुआ है। राष्ट्रपति तथा राज्यपालों को प्रस्तुत उसकी रिपोर्ट क्रमशः संसद के प्रत्येक सदन तथा राज्य विधानमण्डलों के सामने रखी जाती है। एक बार सेवानिवृत्त होने के बाद वह केंद्र या किसी राज्य सरकार के अधीन सेवा करने का पात्र नहीं होता।

अभ्यास

1. उच्चतम न्यायालय के गठन, क्षेत्राधिकार तथा अधिकारों का वर्णन कीजिए।
2. उच्च न्यायालय के गठन, क्षेत्राधिकार तथा अधिकारों का वर्णन कीजिए।
3. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के हटाए जाने की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :
   1. मौलिक अधिकारों के रक्षक के रूप में उच्चतम न्यायालय,
   2. अभिलेख न्यायालय (कोर्ट आफ रिकार्ड) के रूप में उच्चतम न्यायालय,
   3. जिला स्तर पर अधीनस्थ न्यायालय,
   4. लोक अदालत,
   5. राजस्व न्यायालय।

अध्याय 9

नौकरशाही की मुख्य विशेषताएँ

आधुनिक सरकार के कार्य के दो पहलू हैं जो एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। एक पहलू सरकार के संचालन के लिए रूपरेखा बनाने से संबंध रखता है और दूसरा उसके प्रशासन से। राजनीतिक कार्यपालिका प्रशासन पर नियंत्रण रखती है पर उसके दैनिक संचालन का काम सरकार के स्थायी कर्मचारियों पर छोड़ दिया जाता है। इन्हीं कर्मचारियों को **सिविल सेवा** या **नौकरशाही** के नाम से जाना जाता है। ये राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा तय नीतियों का कार्यान्वयन करते हैं।

नौकरशाही या सिविल सेवा पेशेवर और स्थायी कर्मचारियों का निकाय है जो गैर-राजनीतिक क्षमता में राज्य के सिविल या असैनिक मामलों की देखरेख के लिए काम करती है। परंपरानुसार यह निकाय राज्य की सेवा करने वाले अन्य स्थायी निकायों, जैसे सैनिक सेवा, न्यायिक सेवा और पुलिस सेवा से भिन्न है। सिविल कर्मचारी राज्य के आंतरिक मामलों के प्रशासन के लिए नियुक्त किए जाते हैं। उनकी भूमिका राजनीतिक अथवा सैनिक नहीं होती और न ही वे पुलिस का कार्य करते हैं।

सिविल सेवाओं में कुछ लक्षण समान होते हैं। अधिकांश सिविल कर्मचारी सार्वजनिक प्रशासन की किसी शाखा में कुशल बन जाते हैं। वे राज्य की नीति बनाने वालों के पेशेवर सलाहकार माने जाते हैं। इस सीमा तक प्रत्येक देश अपने सिविल कर्मचारियों से निष्पक्ष और निरपेक्ष रहने की उम्मीद करता है। उनका काम राज्य की नीति के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों को सलाह देना, चेतावनी देना और सहायता देना है। जब राज्य की नीति बना ली जाती है तो वे उसके कार्यान्वयन की व्यवस्था करते हैं। अपने कार्यों के निष्पादन में उन्हें जनता में बदनामी और निंदा से मुक्त रखा गया है किन्तु उनके प्रशासनिक कार्य विशेष न्यायिक नियंत्रण से मुक्त नहीं।

सिविल सेवाओं का गठन नौकरशाही के विशिष्ट तरीकों से किया जाता है जिसके अनुसार शीर्षस्थ अधिकारी के नीचे के तमाम कर्मचारियों तक आदेशों की शृंखला पिरामिड के आकार की होती है। किसी आदेश में यह अंतर्निहित होता है कि ऊपर के स्तर के व्यक्ति के विधि-सम्मत आदेश का पालन अवश्य किया जाएगा। पद सोपान क्रम में अधिकारियों के स्थान,

कर्त्तव्य-भार, अधिकार, वेतन तथा विशेषाधिकार नियत रहते हैं।

सिविल सेवा शब्द का प्रयोग भारत के ब्रिटिश शासन के दौरान पहले पहल हुआ और आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व सर चार्ल्स ट्रेवलयन ने इसे लोकप्रिय बनाया। जब ब्रिटेन में खुली प्रतियोगी परीक्षा द्वारा नौकरियों के लिए भर्ती शुरू हुई तो ऐसे अधिकारियों तथा कर्मचारियों के लिए 'सिविल सेवा' शब्दों का इस्तेमाल किया गया जो पेशेवर या व्यावसायिक तौर पर (सैनिक या न्यायिक सेवा के तौर पर नहीं) राज्य की सेवा में लगे थे।

ब्रिटेन और कुछ सीमा तक अन्य देशों में 'सिविल सेवा' से तात्पर्य उन कर्मचारियों से होता है जो सरकार की स्थानीय इकाइयों के बजाए केंद्र सरकार या उसकी एजेंसियों की सेवा में काम करते हैं। पर बुनियादी तौर पर सिविल सेवा के अंतर्गत प्रशिक्षित जनशक्ति का वह बढ़ता हुआ समूह सम्मिलित है जिसे प्रत्येक आधुनिक राज्य-व्यवस्था सरकारी कार्यों के निष्पादन के लिए रखती है। निश्चित रूप से, सिविल सेवा आधुनिक शासन प्रणालियों के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, चाहे वे पश्चिम के देश हों या विश्व के अन्य भागों के देश। सभी देशों में सिविल सेवा आधुनिक सरकार का केंद्र-बिंदु होती है।

आवश्यकताएँ

कुछ परिस्थितियों में सिविल सेवा प्रणाली की स्थापना की जा सकती है। इस प्रणाली के लिए कानूनी आधार उपलब्ध कराया जाना चाहिए जो पारंपरिक हो और संहिताबद्ध न हो। अन्य समान लक्षण यह हैं कि इस प्रणाली के अनुरक्षण का दायित्व संभालने वाली कार्मिक एजेंसी या एजेंसियां होनी चाहिए।

किसी विकसित सिविल सेवा प्रणाली के लिए चयन, पदोन्नति, क्षतिपूर्ति, कार्य-निष्पादन का मूल्यांकन, अनुशासन आदि जैसी सामान्य कार्मिक व्यवस्थाओं के संचालन की सुस्थापित कार्यविधि की आवश्यकता होती है। प्रणाली में सिविल कर्मचारियों के लिए पद की सुरक्षा की व्यवस्था हो और उनके आचरण के सिद्धात निर्धारित किए गए हों।

किसी भी राजनीतिक प्रणाली में सिविल सेवा के सरकार के अन्य उपकरणों तथा बाहरी हित समूह से संबंधी महत्वपूर्ण पश्चिमी लोकतंत्रों में नौकरशाही की भूमिका सुपरिभाषित है और समस्या अनिवार्यतः यही रहती है कि लंबी समयावधि में परिपक्व वर्तमान संतुलन कैसे बनाए रखा जाए।

आवश्यकता तथा मूल आधार

सरकार के कार्यों में वृद्धि तथा प्रशासनिक कार्य की बढ़ती जटिलता ने व्यावसायिक या पेशेवर सिविल सेवा रखना ज़रूरी कर दिया है। इस सेवा में तकनीकी तौर पर प्रशिक्षित व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जो राज्य की सेवा में प्रवेश लेते हैं और, चाहे सत्तारूढ़ दलों में कितनी ही बार बदलाव हो जाए, सेवानिवृति की आयु तक अपने पदों पर काम करते रहते हैं। स्थायी और तकनीकी योग्यता प्राप्त कर्मचारियों की नियुक्ति का संबंध इस बात से है कि सेवा में कार्य कुशलता बढ़े। सिविल सेवा राज्य के कार्यों को अपना पूरा समय, शक्ति और ध्यान देगी। इस प्रयोजन से न केवल सेवानिवृति के बाद बल्कि कुछ मामलों में उनके परिवारों और आश्रितों को भी पेंशन देने की व्यवस्था हुई है।

प्रशासनिक तथा राजनीतिक कार्यपालिका

आज के युग में प्रशासन तकनीकी हो गया है जिस पर अस्थायी राजनीतिक कार्यपालिका दक्षता प्राप्त नहीं कर सकती। सिविल कर्मचारी कुशल प्रशासन के लिए आवश्यक तकनीकी योग्यता रखते हैं यहां तक कि निर्णय लेने के मामले में भी वरिष्ठ सिविल कर्मचारी सारी संबंधित सूचना और ज़रूरी सलाह देते हैं जिनके आधार पर ही राजनीतिक कार्यपालिका कोई निर्णय लेती है। राजनीतिक कार्यपालिका लोकप्रियता का तत्व प्रदान करती है जबकि सिविल सेवा सरकार को चलाने में विशेषज्ञता प्रदान करती है। कार्यपालिका की इन दो शाखाओं के बीच समझदारी और उनकी गुणवत्ता पर ही शासन तंत्र की कार्य कुशलता निर्भर करती है।

सिविल सेवा का बढ़ता महत्व आधुनिक राजनीति का सार्थक तथ्य है। सिविल सेवा के बढ़ते महत्व के लिए ये तीन कारक जिम्मेदार कहे जा सकते हैं: सरकारी काम-काज का अत्यधिक तकनीकी स्वरूप, श्रम विभाजन के सामाजिक लाभ की मान्यता, और सरकार के कार्यकलापों में बहुत वृद्धि। प्रशासनिक तंत्र के वास्तविक परिचालन में तकनीकी कुशलता या दक्षता तथा सार्वजनिक प्रबंध में विशेषज्ञता के लाभों के बारे में बढ़ती जानकारी, इन दो बातों के कारण स्थायी पेशेवर वर्ग की स्थापना हुई है। आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य में सरकार के कार्यकलापों के बहुत विस्तार पा जाने से प्रशासनिक कार्य का बोझ बहुत बढ़ चुका है, जिसके फलस्वरूप बड़ी संख्या में सिविल कर्मचारियों को नौकरियों पर नियुक्त करना पड़ा है। कार्य की गुणवत्ता तथा संख्या के दृष्टिकोण से देखा जाए तो हम पाएंगे कि आज सिविल सेवा को आधुनिक राजनीति में सर्वोच्च महत्व के स्थान पर रहने का गौरव मिला है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

व्यावसायिक सिविल सेवा की स्थापना ब्रिटेन में 1855 में सिविल सेवा आयोग की स्थापना के साथ हुई थी। यह निकाय सिविल सेवा की सब नौकरियों के उम्मीदवारों के लिए प्रवेश परीक्षा का इंतजाम करता है। सिविल सेवा की दो श्रेणियाँ होती हैं : कार्यपालक तथा प्रशासनिक। कार्यपालक श्रेणी का कार्य कानूनों, नियमों तथा व्यवहार द्वारा विकसित तथा निर्धारित कार्यों को निष्पादित करना है। इस शाखा के अधिकारियों की भर्ती 18 से 25 वर्ष की आयु में तब होती है जब वे उच्च माध्यमिक विद्यालय परीक्षा को उत्तीर्ण कर चुके होते हैं। प्रशासनिक श्रेणी की भर्ती विश्वविद्यालयों के प्रतिभाशाली 22 से 24 वर्षों के बीच की आयु वाले स्नातकों में से होती है। चाहे ब्रिटेन हो या भारत, सिविल सेवा का आधुनिक कार्मिक उद्योग, व्यापार और वित्त के मामलों में अनुभवी अथवा सक्षम नहीं है, जबकि सरकारी कामकाज इन्हीं क्षेत्रों में दिनों दिन बढ़ता जा रहा है।

संयुक्त राज्य अमरीका में व्यावसायिक सिविल सेवा 1883 में आरंभ हुई थी। इस सेवा की कार्यकुशलता में वृद्धि किए जाने के उपाय खोजने के लिए 1936 में एक समिति नियुक्त की गई थी।

सिविल सेवा में भर्ती

सिविल सेवा संगठित करने के लिए अलग-अलग देश विभिन्न सिद्धांतों का अनुसरण करते हैं। कुछ देशों में सिविल कर्मचारियों की कुछ श्रेणियों की नियुक्तियाँ राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा की जाती है। वे अस्थायी अवधि के लिए प्रशासन की सेवा करते हैं। पर अधिकांश राज्यों में सिविल कर्मचारियों का स्थायी संवर्ग होता है और उनकी नियुक्तियाँ राजनीतिक कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्र से बाहर रहती हैं। राजनीतिक कार्यपालिका

द्वारा सिविल कर्मचारियों की अस्थायी नियुक्ति के कुछ अवांछनीय परिणाम होते हैं। इससे प्रशासनिक अनुभव रखने वाले अधिकारियों का समूह नहीं बन पाता जो प्रशासनिक तंत्र को ठीक ढंग से चलाने के लिए ज़रूरी होता है। कार्य काल की अनिश्चितता रहने से सक्षम और सुयोग्य व्यक्ति प्रशासनिक सेवा से दूर रहना चाहते हैं क्योंकि वे उसमें जीविका की सुरक्षा नहीं पाते। लूट-प्रणाली तथा राजनीतिक संरक्षण का नतीजा यह होता है कि सार्वजनिक कार्यालयों में अधिकारियों के पदों पर अयोग्य और अनुभवहीन और कभी-कभी भ्रष्ट व्यक्ति बैठ जाते हैं। अपरिहार्य रूप से इस सब का परिणाम यह होता है कि सार्वजनिक सेवा के मानक का पतन आ जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका में लूट-प्रणाली द्वारा संघीय सेवा में जो दोष आ गए थे उनके कारण अंत में योग्यता प्रणाली पर आधारित सिविल सेवा सुधार करने पड़े इससे संयुक्त राज्य अमरीका में सिविल सेवा के मानक में वास्तव में सुधार हुआ। अब बहुत बड़ी संख्या में सिविल सेवा में प्रवेश चाहने वाले व्यक्ति नियुक्ति के लिए राजनीतिक कार्यपालिका के नियंत्रण में नहीं होते।

सार्वजनिक सेवा के पदों पर नियुक्तियाँ राजनीतिक कार्यपालिका की ताकत से बाहर रहनी चाहिए। नियुक्तियों में पक्षपात और भाई-भतीजावाद यथासंभव समाप्त किया जाना चाहिए किसी स्वतंत्र सेवा आयोग द्वारा संचालित खुली प्रतियोगी परीक्षा का सिद्धांत ही सार्वजनिक सेवा में प्रवेश के लिए बुद्धिसंगत और संतोषजनक सिद्धांत है। लगभग हर आधुनिक राज्य में लोक सेवा आयोग को स्वायत्ता प्राप्त होती है और वह कार्यपालक तथा विधायी नियंत्रण के अधीन नहीं रहता। उदाहरणार्थ, भारत में संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों को राष्ट्रपति तभी सेवा से हटा सकते हैं जब उसके विरुद्ध दुराचरण के आरोप विशेष विधि द्वारा सिद्ध हो जाएँ। इससे आयोग की स्वतंत्रता सुनिश्चित हो जाती है। यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका तथा ब्रिटेन जैसे कुछ देशों में लोकसेवा आयोग विधायिका द्वारा गठित होते हैं, पर भारत में उनका गठन संविधान के प्रावधानों के अंतर्गत होता है और इसलिए उन्हें विशेष सांविधानिक स्थिति प्राप्त होती है।

प्रतियोगी परीक्षा की कोई समान पद्धति विकसित नहीं हुई है। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश पद्धति एकदम शैक्षिक है जब कि अमरीकी पद्धति सुनिश्चित तथा व्यावहारिक रहने की प्रवृत्ति रखती है। संयुक्त राज्य अमरीका में सिविल सेवा आयोग उम्मीदवार के भावी रोजगार के स्वरूप से संबंध रखता है। ब्रिटिश पद्धति में यह मान्यता रहती है कि बौद्धिक योग्यता तथा मानसिक स्फूर्ति रखने वाला कोई व्यक्ति अपने सुनिश्चित कार्य के बारे में मोटे तौर पर जानकारी बहुत थोड़े समय में ही संग्रहीत करने में कठिनाई नहीं महसूस करेगा। साथ ही, ब्रिटिश पद्धति इस विश्वास पर आधारित है कि सिविल कर्मचारी के पास शैक्षिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि होनी चाहिए क्योंकि नौकरी के दौरान कुछ ही वर्षों में वह सीमित क्षेत्र में विशेषज्ञ रह जाएगा। पर अमरीकी पद्धति सेवा में प्रवेश की शर्त के तौर पर व्यापक शैक्षिक योग्यता का आग्रह नहीं करती। यह पद्धति न केवल समाज के उच्चतर वर्ग से ही बल्कि समाज के विभिन्न स्तरों से भी अपने प्रशासनिक वर्ग के अधिकारियों को आकर्षित कर सकती है। अतः ब्रिटिश प्रणाली की तुलना में अमरीकी प्रणाली लोकतांत्रिक है। ब्रिटेन में भी अब शिक्षा संबंधी विशेषाधिकारों के बढ़ते लोकतंत्रीकरण के साथ सिविल सेवा की भर्ती प्रणाली में भी लगातार लोकतंत्रीकरण होता जा रहा है।

सिविल सेवा का वर्गीकरण

सिविल सेवा को उसके स्वरूप तथा कार्य के दायित्व के आधार पर तीन मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता है। शीर्ष पर कार्यकारी वर्ग होता है जिसे अधिक जिम्मेदारी, अधिक पहल के साथ काम करना होता है। उसके नीचे प्रशासनिक वर्ग होता है। इस वर्ग में बहुत योग्य कार्मिक सम्मिलित होते हैं जो प्रशासन के समूचे तंत्र को आवश्यक नेतृत्व तथा प्रेरणा प्रदान करते हैं। सबसे नीचे, आधार पर लिपिकीय वर्ग के लोग होते हैं जिन्हें नित्य प्रति एक-सा काम करना होता है। इस प्रकार सिविल सेवा बहुस्तरीय प्रणाली है जिसमें विभिन्न वेतन-क्रमों तथा श्रेणियों के कर्मचारी साथ-साथ काम करते हैं।

भूमिका तथा लक्षण

निर्णय लेने की प्रक्रिया तथा नीति-निर्माण में नौकरशाही की वास्तविक भूमिका सब सरकारी प्रणालियों में भिन्न-भिन्न होती है। संरचनात्मक दृष्टि से, नौकरशाही जैसे संगठन में कई विशेषताएँ होती हैं, जिनमें से कुछेक को हम यहाँ सूचीबद्ध कर रहे हैं।

1. **श्रम का विभाजन** : संगठन के संपूर्ण कार्य को कई विशेषतायुक्त कार्यों में वितरित कर दिया जाता है।
2. **अधिक्रम** : विभिन्न श्रेणियों के अधिकारियों के कई स्तरों की मौजूदगी को अधिक्रम (पद सोपान) कहते हैं जिसके अंतर्गत निम्नतर पदाधिकारियों का पर्यवेक्षण उच्चतर पदाधिकारियों द्वारा किया जाता है।
3. **नियमावली प्रणाली** : कर्मचारियों के अधिकार और कर्त्तव्य और उनके काम करने के तरीके स्पष्ट रूप से निर्धारित नियमों के अंतर्गत संचालित होते हैं।
4. **सुस्पष्टता की भूमिका** : इस संगठन में हर भूमिका यानी हर कार्य के लिए सुस्पष्ट कार्य विवरण साफ़-साफ़ अंकित कर दिए गए होते हैं। पदों के लिए निर्धारित विशिष्टताओं में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि संगठन पदाधिकारी से क्या अपेक्षाएँ रखता है।

नौकरशाही के काम करने की कुछ विशिष्टताएँ होती हैं जिनके बारे में यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

1. **तर्क सम्मत होना** : नौकरशाही तर्क सम्मत संगठनों में से एक है। अत: परिभाषागत दृष्टि से देखें तो उसमें तर्कहीन सोच के लिए कोई स्थान नहीं है। वह सारे निर्णय ठोस साक्ष्य आधार पर लेती है। निर्णय लेने से पूर्व सभी विकल्पों पर निरपेक्ष दृष्टि से विचार किया जाता है।
2. **अवैयक्तिकता** : नौकरशाही संगठन तर्क-विरुद्ध कोरी भावनाओं का ख्याल नहीं रखता। व्यक्तियों का ध्यान रखे बिना शासकीय कार्य चलाया जाता है। यह मशीनी किस्म का ढांचा होता है और इसलिए नितांत अवैयक्तिकता इसकी एक मुख्य विशिष्टता है।
3. **नियमोन्मुखता** : कार्य करने के संबंध में निर्धारित नियमों तथा कार्य विधियों के माध्यम से निर्वैयक्तीकरण संगठन में स्थापित किया जाता है। कर्मचारी अपने कर्त्तव्यों के निष्पादन में नियमों का पालन कठोरता पूर्वक करते हैं।
4. **तटस्थता** : अवैयक्तिकता रहने से यह

निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तटस्थता रहेगी। तटस्थता से अभिप्राय है कि किसी ओर को झुकाव न होना यानी पूर्वाग्रह न रहना। एक *अभिकरण के तौर* पर नौकरशाही किसी राजनीतिक शासन की सेवा उससे जुड़े बिना कर सकती है। वह केवल कार्य से प्रतिबद्ध होती है — किसी मूल्य से नहीं।

यहाँ पर विकास प्रशासन की विशिष्टताओं का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा क्योंकि नौकरशाही दिनों-दिन उसका उपकरण बनती जा रही है।

1. **परिवर्तनोन्मुखता** : विकास प्रशासन का विशेष कार्य मुख्यतः सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए प्रयास करना है। यह विशेष स्थिति ही विकास प्रशासन को नियायक या सामान्य प्रशासन से, जो बुनियादी तौर पर यथास्थिति बनाए रखने में लगा होता है, अलग करती है।

2. **परिणामोन्मुखता** : परिवर्तनों को तेजी से और निश्चित समय-सीमा के अंदर लाना होता है, इसलिए विकास प्रशासन को परिणामोन्मुख बनाया जाता है। इसका *कार्य-विभाजन प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि*, स्वास्थ्य तथा कल्याण सुविधाओं की व्यवस्था आदि की दृष्टि से उत्पादकता से जुड़ा रहता है।

3. **प्रतिबद्धता** : परिवर्तन से प्रतिबद्धता तथा समयबद्ध कार्यक्रमों को पूरित करने संबंधी चिंता, ये बातें विकास प्रशासन के अंतर्गत संगठनात्मक भूमिका अपेक्षाएँ संघटित करती है। प्रशासकों से उम्मीद की जाती है कि वे उन विकास कार्यों से स्वयं को भावनात्मक रूप से जोड़ें जिन्हें उनको सौंपा गया है।

4. **लाभग्राहियों के प्रति उन्मुखता** : विकास प्रशासन स्पष्टतः लाभग्राहियों के प्रति उन्मुख होता है। इसे अनिवार्यतः निर्धारित लक्ष्य समूहों की ज़रूरतें संतुष्ट करने की ओर उन्मुख रहना होता है। अतः उन लोगों की ज़रूरतों की संतुष्टि करना ही कार्य-निष्पादन के मूल्यांकन का मापदण्ड होता है। विकास प्रशासन के अंतर्गत लोग निष्क्रिय लाभग्राही ही नहीं रहते उन्हें सार्वजनिक कार्यक्रमों में सक्रिय हिस्सेदार *या सहयोगी समझा जाता है।* इस प्रकार "लोक हित" तथा "प्रशासन" के बीच निकट का संबंध विकास प्रशासन का अनिवार्य लक्षण है।

5. **कालवाचक आयाम** : विकास प्रशासन समय को विशेष महत्व देता है चूंकि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों को यथाशीघ्र कार्यान्वित करना होता है, इसलिए सब कार्यकलापों की समय सीमा को बहुत महत्व दिया जाता है। परिणामोन्मुखता का मूल तत्व यही है।

नौकरशाही और विकास

नौकरशाही के संगठन की विशिष्टताएँ इस प्रकार संक्षेप में दोहराई जा सकती हैं : नियमों की मौजूदगी, श्रम-विभाजन, अधिकारियों का अधिक्रम, तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त कर्मचारियों का चयन, प्रबंधन से स्वामित्व का पार्थक्य, पदों से, न कि पदाधारियों से अधिकारों का जुड़ा होना, और प्रशासनिक कार्यकलापों को लिखित रूप में और पूरे ब्यौरे के साथ अभिलेखबद्ध किया जाना। *इस प्रकार सैद्धांतिक रूप से नौकरशाही के मान* (सिद्धांत) तथा विकास प्रशासन के मूल तत्व साथ-साथ ठीक से नहीं चलाए जा सकते तथापि, व्यवहार में, विकास के कार्यों से सिविल सेवा के

जुड़ने से स्वयं नौकरशाही के स्वरूप में परिवर्तन आ रहा है।

विकास के लिए राजनीतिक व्यवस्था और प्रबंध पर बहुत निर्भर रहना पड़ता है। विकास की प्रेरणा लाभग्राहियों से आने के बजाए राजनीतिक नेतृत्व से प्राप्त होती है। राजनीतिक व्यक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार करना तथा विकास के कार्यों में सहभागी के तौर पर उसके साथ चलना, ये विकास प्रशासन की अंतर्निहित अपेक्षाएँ हैं। विकास प्रशासन में सेवा नैतिकता के सामान्य निर्देशों के अंतर्गत नौकरशाही को जनता के निकट संपर्क में रहकर काम करना होता है। विकास में जनता द्वारा सहयोग या सांझेदारी को संसाधन के रूप में देखा जाना चाहिए और नौकरशाही को विकास के कार्यों के लिए जनता का समर्थन प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार जनता के बारे में निष्क्रिय लाभग्राहियों के रूप में पारंपरिक संकल्पना के स्थान पर सक्रिय भागीदारों के तौर पर नई संकल्पना को रखा जाना चाहिए। नौकरशाही को परिवर्तन-उन्मुख, परिणाम-उन्मुख तथा जन-उन्मुख बनाने के लिए उसके व्यवहार और दृष्टिकोण में इसी के अनुसार परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में सिविल कर्मचारियों के प्रशिक्षण का महत्व बहुत बढ़ गया है। भारत में यह बदलाव अभी बड़ी हद तक लाया जाना है ताकि नौकरशाही पूरी तरह से नियामक से विकासोन्मुख उपकरण की भूमिका अपना ले।

मूल्यांकन

सिविल सेवा के कार्यकलापों के स्वरूप का महत्वपूर्ण पहलू यह है कि उसे गुमनामी में यानी वैयक्तिक प्रचार से दूर रहकर निष्पक्षता के साथ काम करना चाहिए। संसदीय लोकतंत्र के विकास ने कैबिनेट के दायित्व की आवश्यकता पर बल दिया है। इसका अपरिहार्य परिणाम यह है कि सरकार की किसी भी नीति के लिए सिविल कर्मचारियों पर कोई जिम्मेदारी नहीं आती। सरकार की किसी भयंकर गलती या भूल के लिए न तो उन्हें दोषी ठहराया जाता और न ही उपलब्धि के लिए प्रशंसा की जाती है। अपरिहार्य रूप से इसका संबंध मंत्रिमण्डल से है। सिविल कर्मचारी मंत्रिमण्डलीय दायित्व की आड़ में काम करते हैं। इस तरह वे अप्रत्यक्ष प्राधिकारी होते हैं। इससे ही उनके कार्य की निष्पक्षता और भी बढ़ जाती है। चूंकि सरकार की नीति के लिए वे राजनीतिक दायित्व नहीं रखते, इसलिए उनसे तटस्थ रहने की अपेक्षा की जाती है। सिद्धांत रूप में, राजनीतिक दृष्टि से सिविल अधिकारी तटस्थ होते ही हैं क्योंकि वे थोड़ी अवधि के लिए निर्वाचित राजनीतिक कार्यपालिका की सेवा में कार्यरत स्थायी कर्मचारी होते हैं। उनका कामकाज राजनीतिक कार्यपालिका के कार्यकाल के अनुसार नहीं होता और वे कार्यपालिका के कामकाज से स्वतंत्र होते हैं। फिर भी यह अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि बढ़ते राजनीतिकरण के दौर में सिविल सेवा की तटस्थता दिनोंदिन वास्तविकता की अपेक्षा कोरी कल्पना का रूप ग्रहण करती जा रही है।

जब कोई लोकप्रिय कार्य प्रशासनिक अक्षमता और अयोग्यता के कारण बुरी तरह कार्यान्वित होता है तो वहाँ लोकतंत्र असफल हो जाता है। इस प्रकार कार्यकुशल प्रशासन नीति-निर्माण संबंधी निर्णयों में जनता की पहल से संबंधित लोकतंत्रीय प्रक्रिया का अपरिहार्य अंग है। प्रशासनिक कार्यकुशलता के लिए ऐसे सक्षम कार्मिकों के समूह की ज़रूरत हमेशा रहती है जिन्होंने राज्य की सेवा को जीवन भर के लिए अपना पेशा बना लिया हो। इस कारण आधुनिक सरकार के तंत्र के प्रबंधन तथा संचालन में सिविल सेवा का महत्व बहुत बढ़ गया है।

पर कुछ लोग इस बात से सहमत नहीं हैं कि

क्या सिविल सेवा को, जिसे पुराने ढंग के राज्य की ज़रूरतों को पूरा करने के प्रयोजन से अस्तित्व में लाया गया था, नए ढंग के और लोक कल्याणकारी राज्यों की बदलती आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए काम में लाया जा सकता है। सिविल सेवा द्वारा प्रशासन बौद्धिक रूप से लीक पर चलना है। सिविल अधिकारी के परंपरागत गुण निष्पक्षता तथा अनुदारता हैं परंतु आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य में प्रशासक से यह आशा की जाती है कि वह लोककल्याण के कार्यक्रमों में उत्साहपूर्वक निष्ठा रखे। इस कारण सिविल अधिकारियों के दृष्टिकोण में कठोरता और उनकी आदतों में अनुदारता प्रशासन तथा लोक कल्याणकारी राज्य की संरचना के बीच सहज रूप से एकीकरण के रास्ते में रुकावटें ला देती है। इस प्रकार के राज्य में नई मानसिकता, नए सोच अपनाने के लिए प्रशासक पर दबाव रहना चाहिए ताकि वह नए विचारों के प्रति नमनीय रुख रख सके और संवेदनशील हो।

इस संदर्भ में यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि इसी कारण से नौकरशाही शब्द उपहासपूर्ण अर्थ ग्रहण करने लगा है। नौकरशाही शब्द के लिए अंग्रेजी में "ब्यूरो क्रेसी" शब्द है जो फ्रांस से प्रचलित हुआ था। 17वीं शताब्दी में प्रशासन की महत्वपूर्ण शाखाएँ अलग-अलग मंत्रियों को सौंप दी जाती थीं। इनमें से हरेक के अधीन एक तथाकथित "ब्यूरो" रहता था जिसमें कई उच्च तथा निष्ठ अधिकारी संबंधित मंत्रियों के अधीन रहकर कार्य का निष्पादन करते थे। चूंकि मंत्री बार-बार बदल जाते थे, इसलिए मुख्य लिपिक नीतियों को बनाकर मंत्रियों को प्रस्तुत कर देते थे। इस तरह मुख्य लिपिक का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ने लगा, जो बहुधा राज्य के सामान्य हित के विपरीत गलत ढंग से इस्तेमाल होने लगा। इस प्रकार की सरकार को तिरस्कारपूर्ण ढंग से ब्यूरोक्रेसी या नौकरशाही कहा गया। प्रत्येक आधुनिक राज्य में प्रशासन के अत्यधिक जटिल कार्य को अधिकारियों द्वारा संभाला जाता है। सामूहिक रूप से इस निकाय को नौकरशाही कहा जाता है।

नौकरशाही शब्द ऐसे विशेष प्रकार के औपचारिक संगठन का बोध कराता है जिसकी संरचना में कई निश्चित विशिष्टताएँ हैं। जब इस शब्द का प्रयोग हम सकारात्मक अर्थ में करते हैं तो अत्यधिक विकसित श्रम-विभाजन तथा कार्यों का विशिष्टीकरण (विशेषज्ञता युक्त बनाना) नौकरशाही के सर्वाधिक मौलिक लक्षण हैं।

आधुनिक सरकारों में नौकरशाही जैसे संगठन के उदय ने ऐसे सिविल कर्मचारियों के निकाय की नींव डाल दी है जो जीवन-वृत्ति के रूप में सरकार की सेवा करते हैं। प्रशिक्षित व्यक्तियों के ऐसे व्यावसायिक निकाय से अपेक्षा की जाती है कि वह समस्त निर्णय लेने वाली प्रक्रियाओं पर 'बुद्धिसंगत' प्रभाव छोड़ेगा, परंतु ऐसा सदा नहीं हो पाता।

फिर भी, यह याद रखना उपयोगी है कि नौकरशाही के ये छह घटक होते हैं :

1. नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण का केंद्रीकरण
2. संगठन के प्रत्येक सदस्य के निर्णय की स्वतंत्रता के लिए बचाव,
3. अभिलेखों और पत्रावलियों (फाइल) का रखा जाना,
4. गोपनीयता,
5. कार्यों का विकेंद्रीकरण, तथा
6. पद के लिए योग्यता।

प्रत्येक राज्य में कुछ कार्य प्रादेशिक या

स्थानीय प्राधिकरणों को आवंटित कर दिए जाते हैं। परंतु केंद्रीय प्राधिकरण को तकनीकी रूप से और प्रादेशिक रूप से भिन्न या अलग किए कार्यों के बीच मध्यस्थ अथवा समाकलक (जोड़ने वाले) के तौर पर काम करना चाहिए। प्रशासन में नीति की एकता और एकरूपता लाने के लिए अधिकारियों के अधिक्रम की ज़रूरत होती है। अधिक्रम प्रणाली का निहितार्थ दोष रहित अधीनता है। पर कार्यों के विभेदीकरण तथा वितरण का सिद्धांत उच्च अधिकारियों के निम्नतर स्तरों के कर्मचारियों के पूर्ण प्रभुत्व पर अंकुश लगाता है। उच्च अधिकारी तब निम्नतर कर्मचारी के निर्णय को पलटने में हिचकेगा, जब वह महसूस करेगा कि इस निम्नतर स्तर के व्यक्ति को तथ्यों के बारे में बेहतर और विस्तृत ज्ञान है। परंतु, साथ ही, प्रत्येक प्रशासनिक अधिक्रम में अनुशासन के कुछ नियम होते हैं। अनुशासन के भंग किए जाने पर पदअवनति या पदच्युति की सजा दी जाती है। परंतु, सजा तब तक नहीं दी जानी चाहिए जब तक औपचारिक रूप से दोष न लगाए गए हों और किसी नियमित न्यायालय या दोषी व्यक्ति के समकक्ष व्यक्तियों से गठित न्यायालय ने जाँच करके इसे दोषी ठहरा के दंडित न कर दिया हो। अभिलेखों और फाइलों का रखा जाना सरकार के सभी प्रकारों के अंतर्गत बहुत ज़रूरी हो गया है क्योंकि प्रभावी प्रशासन के लिये सुस्पष्टता तथा अविच्छिन्नता अनिवार्य हैं। कर्मचारियों में नजीर या पूर्वोदाहरण का अनुसरण करने की प्रवृति रहती है। नजीरों के कठोरतापूर्वक पालन से लालफीताशाही का जन्म होने लग जाता है। कर्मचारियों को थोड़ी बहुत गोपनीयता भी रखनी ही होती है। जहाँ तक हो सके, नौकरशाही को राजनीतिक दलों की ओर तटस्थ तथा स्वतंत्र रुख रखना चाहिए।

> आपके निवास क्षेत्र में कानून और व्यवस्था बनाए रखने का काम कौन से कर्मचारी करते हैं? उनके पदों के नाम बताइए।

नौकरशाही की नकारात्मक छवि के बावजूद वह आधुनिक राज्य की, चाहे वह लोकतंत्रीय हो या अलोकतंत्रीय, रीढ़ की हड्डी है। इसे अपना काम करने में जितना अधिक स्वतंत्र और निष्पक्ष रहने दिया जाएगा, लोगों को न्यायपूर्ण सद्व्यवहार पाने का उतना ही मौका मिलेगा। परंतु, इसे नियंत्रण तथा संतुलन की प्रणाली के अंदर काम करना होता है ताकि राजनीतिक कार्यपालिका तथा प्रशासन व्यर्थ का बोझ बने बिना एक दूसरे के सहायक बनें।

अभ्यास

1. आधुनिक राज्य में सिविल सेवा का रहना क्यों आवश्यक है?
2. नौकरशाही के लक्षण/विशिष्टताएँ क्या हैं? इसकी क्या भूमिका होती है?
3. सिविल सेवा को संगठित करने के विभिन्न तरीके क्या हैं? चर्चा कीजिए।
4. नौकरशाही के महत्वपूर्ण घटकों के बारे में संक्षेप में चर्चा कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।
   1. सिविल कर्मचारियों की गुमनामी/गोपनीयता
   2. नौकरशाही तथा विकास कार्य

अध्याय 10

भारत में लोक सेवा

भारत में ब्रिटिश राज्य की एक महत्वपूर्ण देन भारतीय सिविल सेवा है। संगठित सिविल सेवा की संकल्पना का जन्म ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ हुआ। कंपनी के कार्मिकों के सैनिक तथा सिविल क्षेत्रों के बीच भेद करने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने पहले पहल इस शब्द का प्रयोग किया। भारत में ब्रिटिश शासन के साथ-साथ भारतीय सिविल सेवा के सदस्यों ने अपनी ही परंपराओं को विकसित किया। यह बहुत प्रशिक्षित पेशेवर सेवा थी जिसकी विशिष्टताएँ बुद्धिमत्ता तथा परिश्रम थीं। यह वस्तुतः सत्ता की एक मात्र भंडार रही। वास्तव में, भारतीय सिविल सेवा भारतीय जीवन तथा संवेदनाओं की मुख्य धाराओं के बाहर '**शासक वर्ग** बनी रही।

1947 में सत्ता के हस्तांतरण के साथ ब्रिटिश शासक चले गए। परंतु वे एक सुप्रशिक्षित, सक्षम तथा अनुभवी सिविल सेवा छोड़ गए। भारत सरकार ने थोड़े पुनर्गठन तथा समायोजन के साथ पुराने प्रशासनिक ढांचे को ही चलाने का निर्णय लिया। यह स्वाभाविक था क्योंकि सन् 1947 में कानून और व्यवस्था की स्थिति सांप्रदायिक दंगों के कारण बहुत खराब थी। पुरानी ब्रिटिश प्रशासनिक प्रणाली जारी रखना समुचित था। स्वाधीन भारत की सिविल सेवा का नामकरण भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई. ए. एस.) किया गया। और यह पुरानी प्रशासनिक प्रणाली (आई. सी. एस.) को ही जारी रखता था। यह वर्ग अपनी ईमानदारी और कार्यकुशलता के लिए विख्यात था। आई. सी. एस. की संस्था को ध्वस्त करना घातक सिद्ध होता।

स्वतंत्रता प्राप्त होने के साथ ही संसदात्मक प्रणाली और नियोजित विकास पद्धति अपनाए जाने के कारण लोक सेवकों की भूमिका में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। एक और लोक सेवक विभिन्न मंत्रालयों और विभागों में नीति निर्माण के कार्य में राजनीतिक कार्यपालिका की सहायता करते हैं। दूसरी ओर लोकसेवक ही नीतियों के कार्यान्वयन के लिए उत्तरदायी हैं।

भारत में नियोजित विकास की पद्धति अपनाए जाने के फलस्वरूप, लोकसेवकों के कार्यक्षेत्र में विविधता आई है। अब उनके कार्य शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने और राजस्व एकत्रित करने तक ही सीमित नहीं हैं। उनका

उत्तरदायित्व विकासात्मक कार्यों को संपादित करना भी है। इस दृष्टिकोण से भारत में लोकसेवाओं के कार्यों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, **परंपरागत** और **विकासात्मक।**

परंपरागत कार्य वे कार्य हैं जिन्हें लोकसेवक स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले से ही संपादित करते आ रहे हैं। उदाहरण के लिए भू-राजस्व एकत्रित करना, शांति-व्यवस्था बनाए रखना, राजनीतिक कार्यपालिका को प्रशासनिक और तकनीकी सहायता देना और दिन प्रतिदिन के शासन को चलाना। दूसरी तरफ **विकासात्मक** कार्य मूलतः देश के सामाजिक और आर्थिक विकास से संबंधित हैं। एक कल्याणकारी राज्य होने के कारण भारत में सरकार के कल्याणकारी कार्यों पर विशेष बल दिया गया है। लोकसेवक इन कल्याणकारी कार्यों की रूपरेखा बनाने और इन्हें कार्यान्वित करने में सरकार की सहायता करते हैं। इस प्रकार भारत में लोकसेवाएँ जनता के कल्याण और उसके विकास में एक प्रमुख भूमिका अदा करती हैं।

मंत्री राजनीतिक कार्यपालिका की श्रेणी में आते हैं और लोकसेवक स्थायी कार्यपालिका की श्रेणी में। यद्यपि मंत्रियों को जनमत (राष्ट्र के सुख) की जानकारी होती है। परंतु वे विशेषज्ञ नहीं होते। विशेषज्ञता के तत्व की पूर्ति लोकसेवकों द्वारा की जाती है जो शिक्षित, प्रशिक्षित और अनुभवी होते हैं। सरकारी नीतियों को ईमानदारी पूर्वक लागू करना इन लोकसेवकों की ही जिम्मेदारी होती है। इस प्रकार मंत्री और लोकसेवक एक दूसरे के पूरक होते हैं। मंत्री शासन को लोकप्रिय आधार प्रदान करते हैं और लोक सेवक विशेषज्ञता एवं अनुभव। राजनीतिक नेता होने के कारण मंत्री अपने पद पर तभी तक बने रह सकते हैं जब तक उन्हें बहुमत का समर्थन मिलता है। जबकि लोकसेवकों का स्थायित्व प्रशासन में निरंतरता बनाए रखता है। लोक सेवकों के कार्य के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि वे राजनीतिक तटस्थता बनाए रखें।

परंतु लोक सेवकों की तटस्थता संबंधी परंपरावादी दृष्टिकोण में इधर कुछ समय से परिवर्तन आया है। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार अब लोकसेवकों की भूमिका नीति संबंधी मामलों पर परामर्श देने तक ही सीमित नहीं है। लोकसेवकों से यह अपेक्षित है कि वे जनसाधारण की आवश्यकताओं के प्रति सजग और जनकल्याण के लिए उत्तरदायी बने रहें।

राजनीतिक रूप से तटस्थ लोकसेवा संभवतः जनता के प्रति उदासीन तथा अनुत्तरदायी बनी रहेगी। वर्तमान परिस्थितियों में तो लोकसेवकों के लिए अपने कार्यों के संपादन में तटस्थ बने रहना और भी कठिन हो गया है। वास्तव में, आवश्यकता ऐसे लोकसेवकों की है, जो राष्ट्रीय लक्ष्यों के प्रति वचनबद्ध हों और जिनकी निष्ठा उन नीतियों तथा कार्यक्रमों में हो जो इन्हीं राष्ट्रीय उद्देश्यों पर आधारित होती हैं। **वचनबद्धता** का अभिप्राय किसी राजनीतिक विचारधारा अथवा राजनीतिक दल के प्रति बचनबद्धता नहीं है। इसका तात्पर्य सिर्फ यही है कि लोकसेवक सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों का पूरी लगन तथा निष्ठापूर्वक संपादन करें अन्यथा शासकीय नीतियाँ व कार्यक्रम सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं होंगे।

भारत में सिविल सेवा के लिए सुरक्षाएँ

ब्रिटेन के सामान्य कानून के अंतर्गत नरेश के कर्मचारी नरेश की इच्छा-पर्यंत अवधि के दौरान पदों पर बने रहते हैं और निकाले जाने संबंधी

कोई कारण बताए बिना किसी भी समय बिना सूचना दिए सेवा से हटाए जा सकते हैं। इस प्रकार से हटाए जाने पर नरेश के विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती, चाहे यह कार्य नौकरी देने की व्यक्त शर्तों के विपरीत ही क्यों न हो। नरेश का सेवक अपने वेतन आदि के बकाया होने पर भी नरेश पर मुकदमा नहीं कर सकता।

परंतु भारतीय कानून ने इस नियम को इसके समस्त कठोर निहितार्थों सहित पूर्णतः अंगीकृत नहीं किया है। भारत के संविधान में इसके लिए प्रावधान है। उसे अपने ऊपर लगे इन आरोपों के बारे में सुने जाने के लिए पर्याप्त अवसर दिया जाता है। इस तरह जाँच के दौरान प्राप्त संदर्भ के आधार पर प्रतिवेदन करने का उसे पर्याप्त अवसर प्रदान किया जाता है। यदि कोई सिविल कर्मचारी कार्यविधि के अनुसार चले बिना हटा दिया जाता है या निकाल दिया जाता है तो वह न्यायालय के माध्यम से हटाए या निकाले जाने के आदेश को अवैध घोषित करा सकता है। उसे सिविल सेवा का सदस्य बने रहने की अनुमति मिलनी चाहिए। परंतु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उसे दिए गए बचाव तभी उपलब्ध होंगे जब वह नियुक्ति समुचित ढंग से हुई होगी। इस प्रकार, जहाँ नियुक्ति से पहले लोक सेवा आयोग की सहमति आवश्यक है और ऐसी सहमति प्राप्त नहीं की गई हैं वहाँ नियुक्त व्यक्ति को सांविधानिक बचाव या सुरक्षा का दावा करने का अधिकार प्राप्त नहीं रहता।

संरचना

संघीय व्यवस्था होने के कारण भारत में दो स्तर पर सरकारें हैं : **केंद्रीय** तथा **राज्य** सरकारें। प्रत्येक सरकार को सौंपे गए निर्णयों से संबंधित प्रशासन दो प्रकार के अधिकारियों द्वारा चलाया जाता है। केंद्रीय सरकार का प्रशासन चलाने वाले अधिकारियों को संघ लोक सेवा आयोग की सहायता से भर्ती किया जाता है और राज्य सरकार के अधिकारियों को संबंधित लोक सेवा आयोग की सहायता से भर्ती किया जाता है।

भारत की सिविल सेवा में ऐसे व्यक्तियों की एक श्रेणी होती है जो केंद्र तथा राज्यों, दोनों में सेवारत रहते हैं। इन सेवाओं के लोगों को अखिल भारतीय आधार पर भर्ती किया जाता है और उन्हें केंद्र तथा राज्यों, दोनों में पद-स्थापित किया जा सकता है। संविधान में भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा जैसी अखिल भारतीय सेवाओं के लिए प्रावधान किया गया है। संविधान में अधिक अखिल भारती सेवाएं सृजित करने के लिए भी प्रावधान है। प्रारंभिक अखिल भारतीय सेवाओं के साथ भारतीय अभियंता (इंजीनियर) सेवा, भारतीय वन सेवा तथा भारतीय चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवा को जोड़ा गया है। अखिल भारतीय सेवा के संवर्ग में सम्मिलित सिविल अधिकारी राज्यों में शीर्ष पदों पर सेवारत होते हैं। कुछ राज्य अधिक अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन के विरुद्ध रहे हैं क्योंकि उन्हें लगा कि इन सेवाओं से उनकी स्वायत्तता प्रभावित होती है। साथ ही, भारतीय विदेश सेवा, भारतीय लेखा परीक्षा एवं लेखा सेवा, भारतीय डाक सेवा तथा केंद्रीय इंजीनियरी सेवा जैसी कई दूसरी सेवाएँ हैं जिन्हें केंद्रीय सेवाएँ कहा जाता है। इन सेवाओं के सदस्यों को देश के किसी भी भाग को स्थानांतरित किया जा सकता है। इन सेवाओं को उनके वेतन मानों के आधार पर चार समूहों (ग्रुप) में रखा गया है : ग्रुप ए, बी. सी. डी.।

प्रशासन के अंतर्गत, निम्नतर तथा अधीनस्थ कार्यालयों में गैर-तकनीकी पदों पर अन्य व्यक्ति भर्ती किए जाते हैं। इन सेवाओं के सदस्यों की भर्ती का काम कर्मचारी चयन आयोग करता है जिसके प्रादेशिक कार्यालय हैं।

सरकार के प्रशासनिक संगठन के अंतर्गत प्रत्येक विभाग का विभागाध्यक्ष होता है जिसे सामान्यतया सचिव कहा जाता है। वह अपने विभाग में प्रशासन के तंत्र की देख-रेख करता है। कभी-कभी अतिरिक्त सचिव भी रहते हैं। सचिव की सहायता के लिए निम्नतर स्तरों पर संयुक्त सचिव, उप-सचिव तथा अवर सचिव होते हैं। विभाग में कई शाखाएँ तथा अनुभाग होते हैं इनमें से प्रत्येक अनुभाग की देखरेख अनुभाग अधिकारी द्वारा की जाती है।

केंद्र तथा राज्य स्तरों पर लोक सेवा आयोग

भारतीय लोक सेवा आयोग को ब्रिटिश उपनिवेशों में (ब्रिटिश) **यूनाइटेड किंगडम सिविल सर्विस कमीशन** की तरह संगठित किया गया। इसे सिविल सेवा से राजनीति को बाहर रखने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। भारत में केंद्र तथा राज्य दोनों स्तरों पर लोक सेवा आयोग हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत में लोक सेवा आयोग की स्थापना के प्रश्न पर **मांटेग्यू रिपोर्ट (1918)** द्वारा विचार किया गया था। इस रिपोर्ट पर आधारित भारत सरकार अधिनियम 1919 में लोक सेवा आयोग की स्थापना का प्रावधान था। जैसा भारत सरकार अधिनियम 1919 में प्रावधान किया गया, लोक सेवा आयोग, जैसा उसे तब नाम दिया गया, की स्थापना 1926 में हुई। इस आयोग में अध्यक्ष के अलावा चार सदस्य थे। जब 1935 का भारत सरकार अधिनियम लागू हुआ, तो इस आयोग को **संघ लोक सेवा आयोग** कहा जाने लगा। भारत के संविधान के अंतर्गत स्वतंत्र सांविधिक निकाय के रूप में ऐसे ही निकाय की स्थापना हुई और उसे संघ लोक सेवा आयोग कहा गया।

लोक सेवा आयोग की संरचना : संघ/राज्य/संयुक्त

संघ लोक सेवा आयोग के लिए एक तथा प्रत्येक राज्य के लिए एक लोक सेवा आयोग की व्यवस्था है। यदि दो या अधिक राज्य अपने विधानमण्डलों में इस आशय का प्रस्ताव पारित करने के लिए सफल होते हैं कि उन राज्यों के समूह के लिए एक लोक सेवा आयोग होगा, तो कानून पारित करके संसद संयुक्त लोक सेवा आयोग के लिए प्रावधान करेगी। लोक सेवा आयोग में अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य होते हैं जिन्हें संघ लोक सेवा आयोग या संयुक्त लोक सेवा आयोग के संदर्भ में राष्ट्रपति द्वारा राज्य के संदर्भ में उस राज्य के राज्यपाल द्वारा नियुक्त किया जाता है। राष्ट्रपति या राज्यपाल को (जैसी भी स्थिति हो) आयोग के सदस्यों की संख्या तथा अन्य सेवा शर्तें विनियमों द्वारा निर्धारित करने का अधिकार होता है। आयोग के लगभग आधे सदस्य ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी नियुक्ति के समय भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन न्यूनतम 10 वर्षों तक पदधारी रह चुके हों। अन्य सदस्यों में से आधे अन्य क्षेत्रों से आए होने चाहिए।

आयोग का सदस्य छह वर्ष की अवधि तक या संघ आयोग के संदर्भ में 65 वर्ष की आयु तक, इनमें जो भी पहले हो, अपने पद पर काम करता है। कोई सदस्य संघ आयोग के संदर्भ में राज्यपाल को अपने हाथ से त्यागपत्र लिखकर पद छोड़ सकता है। किसी आयोग के अध्यक्ष या सदस्य को केवल राष्ट्रपति के आदेश द्वारा ही पद से हटाया जा सकता है। राज्यपाल को राज्य आयोग के सदस्य/अध्यक्ष को हटाने का अधिकार नहीं है। वह केवल उन्हें निलंबित कर सकता है। संघ लोक सेवा आयोग/संयुक्त आयोग के सदस्य और अध्यक्ष को केवल राष्ट्रपति ही निलंबित कर सकता है। उसे नीचे लिखी स्थितियों में पद से

हटाया जा सकता है :

(क) जब लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष या कोई सदस्य भारत सरकार या किसी राज्य सरकार की ओर से किसी अनुबंध या करार में किसी प्रकार से रुचि रखने लगता है या वहाँ लाभ अर्जित करने में किसी प्रकार से भागीदार बनता है, तो उसे कदाचार का दोषी माना जाएगा। तब राष्ट्रपति को आवेदन किए जाने पर उच्चतम न्यायालय भारत के संविधान में निर्धारित कार्यविधि के अनुसार इस बारे में जांच करता है। यदि जांच रिपोर्ट इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि अध्यक्ष या इस प्रकार के अन्य सदस्यों को, जैसी भी स्थिति हो, पदों से हटा दिया जाना चाहिए।

(ख) यदि वह दीवालिया हो जाए,

(ग) यदि वह अपने पद की अवधि के दौरान अपने पद के कर्त्तव्यों के दायरे के बाहर किसी सवेतन रोजगार में लगा हो,

(घ) यदि वह राष्ट्रपति की राय में मानसिक अथवा शारीरिक रूप से अशक्त होने के कारण पद पर बने रहने के लिए अयोग्य है।

इस आयोग की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए संविधान इसके अध्यक्ष को सेवा-निवृति के बाद भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी पद पर नियुक्त होने पर रोक लगाता है। आयोग के अध्यक्ष के सिवा कोई सदस्य इस आयोग या किसी राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष के पद पर नियुक्ति के लिए पात्र है लेकिन अन्य किसी पद पर उसकी नियुक्ति नहीं की जा सकती।

इस आयोग के सरकार से संबंधों को केंद्रीय गृह मंत्रालय समन्वित करता है। यह अपने प्रतिदिन के कार्य और अपने सांविधिक उत्तरदायित्वों के निष्पादन के संबंध में भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों तथा विभागों से सीधे संपर्क करता है। आयोग से जुड़ा और उसके अधीन कोई अन्य कार्यालय नहीं है।

संघ लोक सेवा आयोग तथा संयुक्त लोक सेवा आयोग के संदर्भ में राष्ट्रपति द्वारा और राज्य लोक सेवा आयोग के संदर्भ में राज्यपाल द्वारा बनाए गए विनियमों में आयोग के कर्मचारियों की संख्या तथा सेवा शर्तें दी गई हैं। आयोग के सदस्यों की संख्या तथा सेवा शर्तें राष्ट्रपति या राज्यपाल द्वारा, जैसी भी स्थिति हो, निर्धारित की जाती हैं। इधर कुछ समय पहले यह निर्णय लिया गया है कि आयोग के सदस्यों की संख्या छह से आठ तक होगी। इस प्रकार अध्यक्ष को मिलाकर आयोग की सदस्य संख्या नौ तक हो सकती है। संघलोक सेवा आयोग तथा संयुक्त आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति करता है। राज्य लोक सेवा आयोग के संदर्भ में ये नियुक्तियाँ मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल करता है।

> संघ लोक सेवा आयोग के वर्तमान अध्यक्ष का नाम बताइए।
>
> अपने राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष का नाम बताइए।

अधिकार क्षेत्र

संघ लोक सेवा आयोग का अधिकार क्षेत्र संघ सरकार तथा संघ शासित प्रदेशों की सार्वजनिक सेवाओं तक फैला है। राज्य सरकार की सार्वजनिक सेवाएँ राज्य लोक सेवा आयोग के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आती हैं। संघ लोक सेवा आयोग को यह कार्य भी सौंपा गया है कि वह दो या अधिक राज्यों के अनुरोध पर किसी ऐसी

सेवा के लिए संयुक्त भर्ती योजनाएँ बनाए और परिचालित करने में उनकी सहायता करे जिसके लिए विशेष योग्यताधारी उम्मीदवारों की आवश्यकता हो।

कार्य तथा अधिकार

लोक सेवा आयोगों के कार्यों को भारत के संविधान में निर्धारित किया गया है, ये कार्य निम्नांकित हैं :

1. संघ तथा राज्य की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाएँ संचालित करना और सीधी भर्ती के लिए साक्षात्कार व्यवस्था को संचालित करना (ऐसे पदों के लिये भर्ती, जिन्हें पहले से ही किसी संगठित सेवा में कार्यरत व्यक्तियों की पदोन्नति करके नहीं भरा जा सकता, आयोग द्वारा संचालित प्रतियोगितात्मक साक्षात्कार प्रणाली द्वारा की जाती हैं) और

2. किन्हीं ऐसी सेवाओं के लिए संयुक्त भर्ती की योजनाएँ बनाने और चलाने में राज्यों की सहायता करना जिनके लिए विशेष योग्यताधारी उम्मीदवारों की आवश्यकता हो।

साथ ही, निम्नांकित के बारे में आयोग से परामर्श लिया जाएगा :

(क) सिविल सेवाओं तथा सिविल पदों पर भर्ती की पद्धतियों से संबंध रखने वाले सब मामलों पर,

(ख) सिविल सेवाओं और पदों पर नियुक्ति करने में तथा एक सेवा से दूसरी सेवा में पदोन्नति और स्थानांतरण करने में अनुसरण किए जाने वाले सिद्धांतों पर तथा ऐसी नियुक्तियों, पदोन्नतियों या स्थानांतरणों के लिए उम्मीदवारों की उपयुक्तता पर,

(ग) भारत सरकार के अंतर्गत सिविल पद पर सेवारत किसी व्यक्ति को प्रभावित करने वाले सब मामलों पर तथा ऐसे मामलों से संबंधित स्मरणपत्रों या प्रार्थना-पत्रों पर, भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अंतर्गत या भारत में **क्राउन (ब्रिटिश)** के अंतर्गत सिविल पद पर सेवा कर रहे या सेवा कर चुके किसी व्यक्ति को भारत की संचित निधि/राज्य की संचित निधि से, जैसी भी स्थिति हो, राज्य द्वारा भुगतान हो सकने वाली धन राशि संबंधी दावे पर जब कि उस व्यक्ति द्वारा अपने कर्त्तव्य-भारों के निष्पादन में किए गए या किए जाने का अभिप्राय रखने वाले कार्यों से संबंधित किसी भी कानूनी कार्यवाही में अपना बचाव करने के लिए खर्च की गई उस राशि के वास्ते अपना दावा प्रस्तुत किया हो, और

(घ) भारत सरकार या राज्य सरकार के अंतर्गत या भारत में **क्राउन** (नरेश) के अंतर्गत सिविल पद पर सेवारत रहते हुए किसी व्यक्ति के घायल होने से संबंधित पेंशन को प्राप्त करने के लिए किसी दावे पर तथा ऐसी पेंशन की धनराशि संबंधी किसी प्रश्न पर।

जब मंत्रालय अंतिम रूप से कोई नियुक्ति करते हैं, तब भी आयोग की सलाह ली जाती है। सेवा-निवृत्त हो रहे या हो चुके अधिकारियों की पुनः नियुक्ति के प्रकरणों में भी आयोग की राय

मांगी जाती है।

ये आयोग स्थायी या अर्धस्थायी नौकरियों के मामलों पर भी विचार करते हैं। जब कभी विवादास्पद पद पर सीधी भर्ती आयोग के अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत होती है, सरकार आयोग से परामर्श करके ऐसे प्रकरणों पर निर्णय लेती है।

राष्ट्रपति द्वारा परामर्श के लिए आयोग के पास भेजे गए किसी भी मामले पर परामर्श देना आयोग का कर्त्तव्य है।

लोक सेवा आयोगों द्वारा निष्पादित महत्वपूर्ण कर्त्तव्य-भारों में कुछ ये हैं :

1. **परीक्षाएँ** : आयोग विभिन्न अखिल भारतीय और केंद्रीय सेवाओं/राज्य सेवाओं के लिए, जैसी भी स्थिति हो, खुली प्रतियोगितात्मक परीक्षाएँ लेते हैं।

2. **कई वरिष्ठ पद** : विशेषतः नियमित रूप से संगठित वेतनमानों तथा सेवाओं में ऐसे अधिकारियों की पदोन्नति से भरे जाते हैं जिन्होंने अपनी सेवाओं में कनिष्ठ पदों पर निश्चित अवधि तक काम करने का अनुभव अर्जित कर लिया हो।

3. **अनुशासनात्मक प्रकरण** : अनुशासनात्मक मामलों में सरकारी कर्मचारी को कोई दण्ड देने से संबंधित राष्ट्रपति/राज्यपाल के आदेश पारित होने से पहले आयोग से सलाह लेना ज़रूरी है।

4. **कानूनी खर्चों की प्रतिपूर्ति** : कभी-कभी सरकारी कर्मचारियों पर ऐसे कार्यों के लिए अभियोग चलाया जाता है जिन्हें अपने शासकीय कर्त्तव्य-भार के निभाते समय उन्होंने किया हो या करने का अभिप्राय रखा हो। अपना बचाव करते समय सरकारी कर्मचारी द्वारा उठाए गए कानूनी खर्च की प्रतिपूर्ति के दावे आयोग के सामने प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसे मामलों में आयोग को प्रत्येक मामले-विशेष की परिस्थितियों के संदर्भ में कर्मचारी के दावे के औचित्य के बारे में जाँच करके सरकार को सलाह देनी होती है कि कितनी धनराशि की प्रतिपूर्ति की जाए।

5. एक सेवा से दूसरी सेवा में स्थानांतरण के मामलों पर भी आयोग सरकार को सलाह देता है।

विविध पहलू

संघ या राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों या कर्मचारियों को देय वेतन, भत्तों और पेंशन सहित आयोग के सब खर्च भारत की समेकित निधि या राज्य की समेकित निधि पर, जैसी भी स्थिति हो, भारित होंगे।

लोक सेवा आयोग का कर्त्तव्य होगा कि अपने कार्य के बारे में वे प्रत्येक वर्ष राष्ट्रपति/राज्यपाल को रिपोर्ट प्रस्तुत करें। राष्ट्रपति/राज्यपाल के लिए आवश्यक है कि रिपोर्ट की एक प्रति विधायिका के दोनों सदनों के सामने प्रस्तुत करवाए। साथ ही, ऐसा कारण पत्र भी विधायिका के सामने प्रस्तुत किया जाए जिसमें उन मामलों के बारे में ज्ञापन हो जिनमें आयोग का परामर्श स्वीकृत नहीं किया गया।

सुधार के लिए सुझाव

प्रशासन सुधार आयोग ने इन आयोगों की

सदस्यता की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए कुछ सिफारिशें की हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

1. राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करने में राज्यपाल संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष से परामर्श ले।

2. संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करने में संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष से परामर्श लिया जाएगा।

3. संघ लोक सेवा आयोग की सदस्य-संख्या का न्यूनतम दो-तिहाई राज्यों के लोक सेवा आयोगों के अध्यक्ष से परामर्श करके लिया जाए।

4. राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों में से कम से कम एक सदस्य को दूसरे राज्य का निवासी होना चाहिए।

5. आयोग की सदस्यता के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता विश्वविद्यालय से प्राप्त डिग्री होनी चाहिए।

6. सरकारी अधिकारियों में से चयनित सदस्य ने राज्य सरकार या केंद्र सरकार के अंतर्गत न्यूनतम दस वर्ष तक किसी पद पर कार्य किया हो। उसने राज्य में विभागाध्यक्ष या सरकार के सचिव का पद या केंद्र सरकार के अंतर्गत समकक्ष पद या उच्च शिक्षा के संस्थान में समतुल्य पद धारण किया हो।

7. गैर-सरकारी व्यक्तियों में से चुने गए सदस्यों ने शिक्षण, कानून, चिकित्सा, इंजीनियरी, विज्ञान, प्रौद्योगिकी (तकनालाजी), लेखा-विधि या प्रशासन जैसे मान्यता प्राप्त व्यवसायों में से किसी में न्यूनतम 10 वर्ष तक कार्य किया हो।

मूल्यांकन

आयोग बिल्कुल स्वतंत्र होते हैं। उनके द्वारा भर्ती किए गए सिविल कर्मचारी/अधिकारी भारत की प्रशासनिक व्यवस्था के स्तंभ हैं।

आम तौर पर यह बात मानी जाती है कि समाज में तेजी से सामाजिक आर्थिक बदलाव लाने में सार्वजनिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, पर भारत के विकास से संबंधित प्रशासन में नौकरशाही की भूमिका के बारे में कई गलतफहमियाँ हैं। नौकरशाही को सामान्यत: लालफीताशाही, अनमनीयता और अंतहीन नियमों तथा विनियमों से जोड़ा जाता है। परिवर्तन लाने के स्थान पर यथास्थिति बनाए रखना नौकरशाही का मूल लक्षण है। यह भी आलोचना हुई है कि नौकरशाही का स्वभाव या स्वरूप नगरोन्मुख और अभिजात वर्गीय है और ग्रामीण अंचल की आवश्यकताओं से विमुख है यानी वह शहरी मिजाज की है और समाज में धन और सत्ता की दृष्टि से तथाकथित बड़े लोगों के हितों पर ही ध्यान देती है। विशेष बात यह है कि हमारे समाज में विकास के कार्यकलापों को बुनियादी तौर पर चालबाजी से भरे राजनीतिक प्रबंध का मामला समझ लिया गया है। यदि राष्ट्रीय तथा राज्य दोनों स्तरों पर उच्च सिविल सेवाओं में भर्ती के समय आयोग इन पहलुओं पर यथोचित ध्यान देंगे तो इनमें से कुछेक दोषों से हम बच जाएँगे।

कुछ करने को

राजनीतिक विज्ञान के छात्र अपने क्षेत्र के कुछ सिविल अधिकारियों (जैसे स्वास्थ्य सेवाओं का निदेशक, शिक्षा निदेशक, किसी स्थानीय स्वायत्त निकाय का प्रशासक आदि) के साथ भेंट की व्यवस्था कर सकते हैं। वे उनसे इस बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं कि उनकी भर्ती और प्रशिक्षण कैसे होता है और उनके कार्य और दैनिक कार्यकलाप क्या हैं। सिविल अधिकारी उन्हें लोक कल्याणकारी राज्य में नौकरशाही की भूमिका के बारे में भी जानकारी दे सकते हैं।

(पूछे जानें वाले प्रश्नों को शिक्षक की सहायता से पहले ही तैयार कर लिया जाना चाहिए)

अभ्यास

1. भारत में सिविल सेवाएँ कैसे अस्तित्व में आई?
2. कर्त्तव्य-भारों के निष्पादन में सिविल कर्मचारियों की रक्षा किस प्रकार होती है? इस संबंध में सांविधानिक सुरक्षाएँ क्या हैं?
3. लोक सेवा आयोग की शक्तियाँ तथा कार्य बताइए।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
    1. स्वतंत्रता पूर्व व स्वतंत्रता उपरांत लोक सेवकों की भूमिका में अंतर बताइए।
    2. भारत में लोक सेवाओं की संरचना।
    3. लोक सेवा आयोगों का संगठन।

कठिन शब्द

अधिकार-पृच्छा (Quo Warranto)
यह आदेश ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध जारी किया जाता है जो किसी सार्वजनिक पद का दावा करता है या उसे हड़प लेता है। इस आदेश के द्वारा न्यायालय यह जाँच करता है कि व्यक्ति किस अधिकार के अंतर्गत अपने दावे का समर्थन करता है।

अध्यादेश (Ordinance)
जब संसद का अधिवेशन नहीं चल रहा हो और किसी उद्देश्य विशेष के लिए कानून की आवश्यकता हो, तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। इस अध्यादेश का प्रभाव संसद द्वारा निर्मित कानून जैसा ही होगा।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation)
प्रतिनिधित्व अथवा मतदान की एक पद्धति जिससे यह सुनिश्चित किया जाता है कि निर्वाचित व्यक्तियों की संख्या मतदान में उनके समर्थक मतों के अनुपात में रहे।

उत्प्रेषण (Certiorari)
ऐसा आदेश जो किसी अधीनस्थ न्यायालय को इस आशय से दिया जाता है कि अधीनस्थ न्यायालय किसी मामले की कार्यवाहियों को, अभिलेख को, उच्चतर न्यायालय के पास विचारार्थ भेजे।

जनमत संग्रह (Plebiscite)
यह वह विधि है जिसके द्वारा किसी राजनीतिक मुद्दे पर जनता की राय ली जाती है। विभिन्न विकल्पों पर जनता अपनी राय मत द्वारा व्यक्त करती है। उदाहरणार्थ, 1935 में सार क्षेत्र (पहले यह जर्मनी का प्रदेश था) के लोगों को जनमत संग्रह द्वारा यह निर्णय लेने का अवसर दिया गया कि या तो वे जर्मनी का भाग बन जाएँ अथवा फ्रांस का भाग बन जाएँ अथवा राष्ट्र-संघ के प्रशासन के अंतर्गत आ जाएँ।

निंदा प्रस्ताव (Censure Motion)
निंदा प्रस्ताव को संसद में विरोधी दल के नेता अथवा अन्य सदस्यों द्वारा सरकार की नीतियों की आलोचना या उन्हें अमान्य करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। निंदा प्रस्ताव पारित हो जाने पर सरकार को त्यागपत्र देना पड़ सकता है।

क्षमादान (Pardon)
क्षमादान एक प्रकार से राज्याध्यक्ष द्वारा दिया गया दया का दान है। किसी व्यक्ति को जिस किसी अपराध के लिए दंड दिया गया है उसे क्षमादान के द्वारा रिहा किया जा सकता है। इस प्रकार अपराधी स्वतंत्र हो जाता है। भारत में राष्ट्रपति तथा राज्यों के राज्यपाल किसी न्यायालय के द्वारा दंडित व्यक्ति को क्षमादान दे सकते हैं।

नियंत्रण और संतुलन (Checks and Balances)

इस व्यवस्था के द्वारा सरकार के विभिन्न अंगों की शक्तियों को उनके निर्धारित कार्यक्षेत्र के अंतर्गत रखा जाता है। यदि शासन का कोई एक अंग दूसरे अंग के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण करता है तो उस पर वह अंग नियंत्रण लगा सकता है। इस तरह सरकार के तीनों अंग एक दूसरे पर लगातार नियंत्रण रखते हुए सरकार के कार्य में संतुलन और समन्वय बनाए रखते हैं।

निर्वाचक मण्डल (Electoral College)

विशेष निर्वाचन के उद्देश्य से गठित निर्वाचकों का विशेष समूह। उदाहरण के लिए भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन हेतु संसद व राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य निर्वाचक मंडल का गठन करते हैं।

निषेधाधिकार (Veto)

मुख्य कार्यपालिका द्वारा अच्छी प्रकार से सोच-विचार के बाद किसी विधायी अधिनियम पर अपनी अस्वीकृति। और इस प्रकार इसे कानून का रूप लेने से रोक देना।

न्यायिक विधि निर्माण (Judicial Legislation)

विधायिका द्वारा बनाए गए कानूनों से भिन्न, ऐसे कानून जो किसी मामले की सुनवाई के दौरान न्यायाधीश के निर्णय के आधार पर बन जाते हैं। यह न्यायाधीशों द्वारा दिए गए निर्णय से उपजा कानून है जो किसी संदर्भ विशेष में मौजूदा अधिनियमों, संविधियों की व्याख्या पर आधारित होता है।

प्रत्याह्वान (Recall)

कार्यविधि से पूर्व असंतुष्ट मतदाताओं की निश्चित संख्या द्वारा प्रार्थना पत्र के आधार पर निर्वाचित सदस्यों के कार्यकाल को समाप्त करना।

परमादेश (Mandamus)

इसका अर्थ है "हम आदेश देते हैं"। यह एक आदेश या जारी रिट है जो उच्चतर न्यायालय द्वारा अधीनस्थ न्यायालय अथवा सरकारी अधिकारी अथवा निगम अथवा किसी अन्य संस्था को दिया जाता है।

बंदी प्रत्यक्षीकरण (Hebeas Corpus)

व्यक्ति स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए न्यायालय द्वारा अवैध एवं अनुचित रूप से बंदी बनाए गए व्यक्ति को सशरीर प्रस्तुत किए जाने का आदेश।

महाभियोग (Impeachment)

व्यवस्थापिका द्वारा राष्ट्रपति तथा उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों पर लगाए गए किसी आरोप के सिद्ध किए जाने की प्रक्रिया। यदि आरोप सिद्ध हो जाते हैं तो इन व्यक्तियों को पदच्युत कर दिया जाता है।

लूट-प्रणाली (Spoils System)

राजनीतिक संपर्क के आधार पर पद चाहने वालों के बीच सरकार के अंतर्गत पदों का वितरण जिसमें कभी-कभी पदधारियों की योग्यता के बारे में जरा भी विचार नहीं किया जाता। यह व्यवस्था संयुक्त राज्य अमरीका में प्रचलित थी जहाँ सरकारी पद निर्वाचित दल के समर्थकों में वितरित कर दिए जाते थे।

सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility)

यह संसदीय शासन प्रणाली की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। मंत्रिमंडल के सभी सदस्य सरकार के प्रत्येक निर्णय और कार्य के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं। यदि उनकी नीतियों को संसद का समर्थन प्राप्त नहीं हो पाता तो संपूर्ण मंत्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना पड़ता है। इसका आधार यही है कि सब मंत्रिगण अपनी भूल-चूक व समस्त कार्यों के लिए संसद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं।

प्रश्नावली

(अ) पुस्तक के विषय में आप अपनी टिप्पणी और मत नीचे दी हुई प्रश्नावली में देने की कृपा करें। पुस्तक से ये पन्ने अलग कर लीजिए और नीचे दिए हुए पते पर भेज दीजिए : विभागाध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110016

(ब) प्रश्नों का उत्तर देते समय यदि जगहअपर्याप्त लगे तो कृपया अतिरिक्त पन्ने पर भी उत्तर लिख सकते हैं।

(स) प्रश्नावली अध्यापक और छात्र दोनों के लिए है। तारांकित प्रश्न केवल अध्यापकों के लिए हैं।

1. अध्यापक/छात्र
   (क) नाम
   (ख) विद्यालय का नाम और पता

2. पाठ्यपुस्तक
   (क) पाठ्यपुस्तक का नाम
   (ख) कक्षा
   (ग) पुस्तक की भाषा

1. (अ) क्या पुस्तक की साज सज्जा एवं छपाई आकर्षक है? हाँ/नहीं
   (ब) क्या पुस्तक का मूल्य उचित है? हाँ/नहीं

2. क्या आप पुस्तक को आसानी से समझ सकते हैं? हाँ/नहीं

3. जो शब्द समझने में कठिन हैं उन्हें नीचे लिखिए।

-------------------- -------------------- --------------------
-------------------- -------------------- --------------------
-------------------- -------------------- --------------------
-------------------- -------------------- --------------------
-------------------- -------------------- --------------------
-------------------- -------------------- --------------------
-------------------- -------------------- --------------------

4. उन अध्यायों का नाम तथा पृष्ठ संख्या बताइए जिनकी भाषा समझने में कठिन है।

अध्याय संख्या	पृष्ठ संख्या	पंक्ति
____________	____________	____________
____________	____________	____________
____________	____________	____________

* 5. क्या आप समझते हैं कि इस पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु राजनीति विज्ञान के पाठ्यक्रम के अनुरूप है? हाँ/नहीं

* 6. (1) कृपया पुस्तक के उन अंशों को इंगित कीजिए, जिनमें लैंगिक, जातीय, वर्गीय, सामुदायिक, प्रादेशिक और सैद्धान्तिक पूर्वाग्रह प्रतिबिम्बित होते हैं।

पूर्वाग्रह	पृष्ठ संख्या	पंक्ति
____________	____________	____________
____________	____________	____________
____________	____________	____________

(2) इस पाठ्यपुस्तक की विषय वस्तु के वे अंश बताइए जो अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र की भावना के विरुद्ध हों।

____

____

____

* 7. (1) उन अध्यायों का उल्लेख कीजिए जो आपकी राय में विषयवस्तु से अधिक बड़े हैं।

____

____

(2) उन अध्यायों का उल्लेख कीजिए जो आपकी राय में विषयवस्तु की दृष्टि से अपर्याप्त हैं।

____

____

8. क्या पाठ्यपुस्तक के अध्यायों में दिए गए चित्र विषय वस्तु को समझने में सहायक हैं? हाँ/नहीं

9. उन चित्रों का उल्लेख कीजिए जो पाठ्य सामग्री को समझने में सहायक नहीं हैं।

पृष्ठ संख्या	चित्र संख्या	शीर्षक
__________	__________	__________
__________	__________	__________
__________	__________	__________

10. कुछ अध्यायों के अंत में कुछ करने के लिए क्रियाएँ सुझाई गई हैं। आपने अपनी कक्षा में इनमें से कितनी क्रियाएँ आयोजित की हैं? बताइए।

____

____

(1) इन क्रियाओं को करते समय आपको किन किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा?

____

____

(2) क्रियाओं को आयोजित करने के लिए कुछ निर्देश दिए गए हैं। इनमें से किन क्रियाओं के लिए दिए गए निर्देश अपर्याप्त हैं?

____

____

11. प्रत्येक अध्याय में चौखटे के भीतर कुछ प्रश्न पूछे गए हैं।

(1) क्या आप इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढने की कोशिश करते हैं? हाँ/नहीं

(2) क्या वे पुस्तक की विषय वस्तु को समझने में सहायक हैं? हाँ/नहीं

(3) क्या आपको ये प्रश्न रोचक लगते हैं? हाँ/नहीं

12. (1) क्या आपको पुस्तक में दिए गए अभ्यास के प्रश्न रोचक लगते हैं? हाँ/नहीं

(2) अभ्यास के उन प्रश्नों को इंगित कीजिए जिन्हें आपकी राय में बदला जाना चाहिए।

पृष्ठ संख्या	अभ्यास के प्रश्न की संख्या
__________	__________
__________	__________
__________	__________

13. पुस्तक के अंत में 'कठिन शब्द' दिए गए हैं। उन शब्दों को बताइए जिन्हें ठीक तरह से नहीं समझाया गया है।

    ---

14. वे शब्द भी बताइए जिन्हें कठिन शब्दों की सूची में जोड़ा जाना चाहिए।

    ---

15. पुस्तक में यदि मुद्रण की कोई गलती है, तो उसे बताइए।

    पृष्ठ संख्या   गलती

    ---

16. पुस्तक के पूर्ण मूल्यांकन की दृष्टि से, कृपया बताइए
    (1) पुस्तक की अच्छाइयाँ

    ---

    (2) पुस्तक की कमियाँ

Brown's Specific Index		*Dewey's Relative Index*	
Porcelain	D 972	Porcelain	
		ceramics	738.2
		chemic technology	666 5
		cleaning domestic economy	648 54
		plates and vessels prac chemistry	542 232
		radio insulating material	621.3841
			791014
		strength of, eng	
		supports, photo chem.	771.5265
		ware domestic economy	642 7

To conclude this section on book classification, here, in brief, are the essentials of a good bibliographical scheme It should be complete, covering all branches of knowledge, and it should be kept up-to-date by frequent revisions It should be systematic, proceeding from the simple to the complex, and the terms used in it should be clear and comprehensive It should be printed in convenient form and it should be flexible and expansible. Finally, it should include, as we have already seen, generalia and form classes, form divisions, a suitable notation and an index to the schedules

PRACTICAL ASPECTS OF BOOK CLASSIFICATION

Although it is realised that the student at this early stage neither gets, nor is ready for, practical experience in classifying books, he may justifiably be asked such questions as how to determine the subject-matter of a book, and the rules to be observed when classifying books. Both these points are covered in note form in the chapter headed " Practical application of book

classification" in W Howard Phillips' invaluable little book *A Primer of Book Classification.* There is no point in repeating them here, so long as the student fully understands the necessity for referring to these pages in Phillips without further delay.

Elementary problems of shelf arrangement, guiding and display work are more likely to be posed in the examination, and these must be covered in some detail. Once books are classified according to a recognised bibliographical scheme, it would appear that the obvious order in which to shelve them would be strictly according to the notation One does not have to work long in a library, however, to realise that practical considerations preclude this Fiction, for instance, is stocked in such numbers that, even if it were classified at 823 (assuming the *Decimal Classification* to be the one in use) it would dislocate the whole scheme of arrangement if it were shelved at that number. Most libraries, therefore, treat fiction entirely separately and arrange it on the shelves in alphabetical order of author. Music, too, on account of its size, demands a different type of shelving from the normal, and this usually means that it cannot be shelved between the photography books of 770-779 and the sports and pastimes books of 790-799 (I again assume the use of the *Decimal Classification*). In addition, in nearly every class there are oversized books such as quartos and folios which demand special shelving and arrangement. The commonest treatment for oversized books is to shelve them all together in a separate sequence from 000 to 999 The catalogue entries for these books must be marked in some way so that readers wanting any of these books will be directed to the oversized shelves. Finally, shelf arrangement

may be affected by displays of books on particular subjects which the library may arrange from time to time. Books forming part of a display will be taken out of their correct classified sequence and put together on special shelves, book troughs or display tables. This is called *broken order*, but note that the shelving of oversized books in a separate sequence of the scheme is not broken order so much as a parallel arrangement.

One of the most important practical aspects of book classification is that of guiding the library. A library without guides is worse than a road system without signposts. The guides usually provided are :—

(*a*) a catalogue;
(*b*) a plan of the library;
(*c*) class guides printed at the end of each case;
(*d*) shelf guides;
(*e*) lettering on the spines of the books;
(*f*) a personal guide or "library host;"
(*g*) a printed pamphlet describing the use of the catalogue and containing a brief explanation of the classification scheme and shelf arrangement.

By far the most important of those listed above is the personal guide or library host. Personal experience tells us that there are so many posters and placards in modern life that people generally are becoming immune to written advice and directions But people will still take notice of oral advice and this is where the personal guide comes in useful. A number of libraries have successfully instituted the practice of personally showing round new readers, and explaining the system of book arrangement to them. The library

host will, it is hoped, soon become a permanent feature in all libraries.

CLASSIFICATION AND ITS RELATION TO CATALOGUING

For a description of the classified catalogue the student should turn to the chapter on elementary cataloguing. I conclude the present chapter with a brief account of the relationships between classification and cataloguing These two subjects are complementary because they are both aids which librarians have devised to help readers to find books. The essential difference between classification and cataloguing is that whereas in classification a book may be given only one place on the shelves, in the catalogue it may be represented in several places. For example, a book treating equally on architecture, sculpture, painting and engraving presents a problem to the classifier. He can give it only one placing shall he place it with the books on architecture, with those on painting, with those on engraving, with those on sculpture, or shall he place it with the general books on art? Whatever decision he comes to, the classifier should be guided by the law of convenience, that is, after a careful study of the book he should place it where it will be most useful to the majority of readers The cataloguer has no such problem. dealing with cards or slips he can represent the book in the catalogue under *each* of its subjects, if necessary, so that students of architecture, engraving, painting and sculpture will, on consulting the catalogue, be informed of the book's presence and place in the library

In this way, therefore, are cataloguing and classification complementary and of mutual assistance to each other.

SOME FURTHER READING

Brown, J. D Manual of library economy, revised by W. C Berwick Sayers. 6th ed. 1949.
Chapters 15 and 17

Phillips, W Howard. A Primer of book classification Revised ed 1946
Pages 9-10, 20-54.

Sayers, W. C Berwick An Introduction to library classification. 7th ed 1947
Chapter 1, also Preface for the beginner

Sayers, W C Berwick. Manual of book classification. 2nd ed 1947.
Preface, and Chapter 1.

QUESTIONS

1. What do you need to know about a book before classifying it?
2. Define the following, with examples :—(*a*) generalia class, (*b*) a form class (*c*) common form sub-divisions
3. What is meant by (*a*) a mixed notation, (*b*) relative index, (*c*) specific index? Illustrate
4. What are the chief rules for classifying books?
5. What guides do you consider necessary in a modern lending library to give readers the fullest information about the arrangement of the books?
6. In what ways are classification and cataloguing complementary to each other?

Chapter VIII

Reference Material

THE most straightforward part of the Entrance examination syllabus is part 3, headed *Reference material* In this section 23 general reference books are listed, and candidates will be examined on their knowledge of these The majority of these reference books will be found on the shelves of even the smallest libraries and students must handle them and get to know their scope, contents, arrangement and use as thoroughly as possible In this chapter I content myself with a brief description of each of these books, but it cannot be stressed too strongly that there is no alternative to constant personal handling of them and practice in their use The questions at the end of this chapter will afford some practice, but students should go much further than this, if possible setting themselves problems which can only be answered by recourse to these set books Knowledge of reference books cannot be taught by a text-book or a correspondence course : only personal practice in the use of them will suffice.

Whitaker's Almanack

A truly general reference book containing, as its title-page says . . . " a vast amount of information respecting the government, finances, population, commerce, and general statistics of the various nations of

the world, with an index containing 35,000 references " It has appeared annually since 1868, and is now published in three editions—(*a*) a library edition in leather binding and with coloured maps, (*b*) a complete edition bound in cloth ; and (*c*) a shorter edition in paper covers The cloth-bound edition is the one most generally stocked in public reference libraries, and it should be particularly noted that the shorter edition is very unsatisfactory for library purposes because it contains only about 60 per cent. of the total pages of the complete edition The key to *Whitaker's Almanack* is its index if you want information, say, about canals, refer to the index (which is at the beginning of the book) for the page reference. A perusal of the index as a whole will afford an idea of the tremendous scope of this popular and much-used reference book

Willing's Press Guide

Has been published annually since 1874 The main index in the book is an alphabetical list of newspapers and periodicals published in Great Britain and Ireland, giving the year of establishment of the publication, its frequency, price and the address of its editorial offices. Following this is a classified index of periodicals arranged alphabetically by subject · for a complete list of British archæological publications, for instance, look up " Archæology " in this classified list. The *Guide* goes on to list dominion, colonial and foreign publications. Much other useful information is contained in the book, including, among other items, the London addresses of provincial publications, details of newsreels, and a list of reporting and news agencies.

Statesman's Year Book

An annual publication which first appeared in 1864. It is a reference book about the countries of the world containing statistics and general information about them. The edition I describe here begins with information about the United Nations—its membership, organs, budgets, and specialised agencies such as UNESCO and UNRRA Then follows a most useful set of comparative statistical tables about world food production The main part of the book is a list of countries—first, the British Commonwealth of Nations, then the United States of America (dealt with state by state), and finally other foreign countries arranged alphabetically. Under each country or state information is given under the following headings :—Constitution and government ; Local government ; Area and population ; Religion and education ; Justice ; Finance ; Defence ; Production and industry ; Commerce ; Transportation and Communications , Banking and Credit ; Money, weights and measures ; Diplomatic representatives ; and Books of Reference giving further information about the countries

The Oxford Companion to English Literature, edited by Sir Paul Harvey

An encyclopædia of English literature, first published in 1932, revised in later editions. It contains authors, titles, characters in books, allusions and literary references in one alphabetical sequence. Under every English writer (and the best-known foreign ones) will be found the dates of birth and death, brief biographical details and chief works (with dates of publications). Under titles of books, a brief synopsis

is given in most cases, while under the name of each character a reference is given to the author and title of the book in which the character features The second edition of the *Oxford Companion* contains a perpetual calendar and a valuable chapter on copyright and the legal deposit of books. Thus, the sort of questions, among others, that this reference book can answer are —

(*a*) what were the chief works of Dryden and their dates of publication?
(*b*) who wrote *Polyolbion*?
(*c*) in what book does George Osborne appear?

Haydn's Dictionary of dates

This one-volume reference book first appeared in 1841 and has run into very many editions since then It does not, however, appear at regular intervals and the last edition was published in 1910. It is an invaluable historical work, in the form of an alphabetical list of places, peoples and movements with historical data under each entry For instance, under the heading *Libraries* will be found a chronological outline of their history. A most useful book for anyone requiring historical outlines of *any* subject, or for those who wish to check dates of battles, accessions, dates of birth and death of historical personages, Parliamentary Acts or events of almost any kind. Haydn does not confine himself to English history· his book covers world history.

Kempe's Engineer's Year Book

Has appeared annually since 1894. Previously in one volume, it has recently been enlarged to two volumes, but the two form one complete book and are not sold separately. It is on a three-year revision plan, so that

each volume is fully revised once in three years, minor corrections being effected on the other two volumes. The *Year Book* contains formulæ, tables, data and memoranda for civil, mechanical, electrical, marine, gas, steam, aero, mine and metallurgical engineering. Kempe is best approached by the index, which is a relative one of over 70 pages. Another useful feature is the buyer's guide at the end of the book—a classified directory of the leading engineering and allied firms which advertise in the *Year Book.*

Brewer's Dictionary of Phrase and fable

How better can one describe this unique reference book than by citing its sub-title—"the derivation, source or origin of common phrases, allusions and words that have a tale to tell." One might also quote a phrase of the compiler's when he described his book as "a treasury of literary bric-à-brac" It is, in fact, a monumental compilation of words and phrases, alphabetically arranged, with explanations The sort of queries that this book can answer are —

(*a*) what was the origin of the barber's pole?
(*b*) what was the origin of the name "Piccadilly"?

There is also an appendix consisting of an alphabetical list of English writers, with brief biographical details of each. Dr. Brewer also compiled a *Readers' Guide* on similar lines to his *Dictionary*, except that it deals more specifically with books and reading.

Who's Who

An annual biographical dictionary which published its centenary volume in 1948 It contains many thousands of entries, arranged alphabetically, chiefly of English men and women but also including notable

foreigners The information under each entry includes full name, description, date of birth, children (if any), where educated, activities, publications, recreations, clubs and present address and telephone number. Entries are made by autobiographees themselves, and once access is gained to *Who's Who*, the entry remains in until the death or criminal conviction of the person. *Who's Who* deals with living people, but is supplemented by three volumes of *Who Was Who*, covering notabilities who died within the periods 1897-1915, 1916-1928 and 1929-1940 respectively. *Who's Who* also contains, apart from the main list of biographies, a list of abbreviations used, an obituary list of the notabilities who died during the previous year, and information about the Royal Family

Subject Index to Periodicals

This has been published annually by the Library Association since 1915 except for the years 1923 to 1925 inclusive when no volumes were issued. The book is arranged alphabetically by subject, and under each subject heading will be found the authors, titles and names and dates of publications in which articles on the subject appeared during the year covered. Those wishing to find out, for example, what articles were written on the Atomic Bomb during 1946 will find the references under " Atomic Bomb " in the *Subject Index to Periodicals* for 1946. The first approach to the book should be via the preface, which gives brief instructions on how to use the index, stressing that as it is arranged on dictionary catalogue principles, cross-references play an important part in its use.

Stevenson's Book of Quotations

The full title of this reference book is the " Home

Book of quotations: classical and modern," compiled by Burton E. Stevenson. It is an American publication, and was first issued in 1934. The quotations, over 50,000 of them, are arranged alphabetically by subject, and under each subject alphabetically by author. There is an index of authors, so that if the author of a quotation is known the search can be narrowed down by referring to this index. Finally, there is a concordance or word-index to the quotations. In almost every quotation there will be one or two catchwords and reference to these in the concordance will usually direct the enquirer to the full quotation and other details he requires. At the beginning of the book there is a guide to its use, and all students should read and master this. It should be noted that Stevenson is the compiler of a companion volume entitled *Stevenson's Book of Shakespeare Quotations*.

Grove's Dictionary of Music and Musicians

First published in 1879, the 4th edition edited by H. C. Colles appeared in 5 volumes and a supplementary volume in 1940. It is the standard encyclopædia of music and it contains signed articles, with bibliographies. The volumes are arranged in one alphabetical sequence of entries, which include musical history, theory and practice, instruments, musical terms, biographies of musicians and articles on individual compositions, songs and operas. It does not give opera plots: for these one must refer either to Gustav Kobbé's *Complete opera book* or to J. Walker McSpadden's *Opera synopses*. Grove is very useful for the lists of works by each composer, arranged where possible by the opus numbers. The five volumes of Grove are augmented by an American

supplement, being the sixth volume of the complete work. This appeared in 1928, being edited by Waldo Pratt.

Encyclopædia Britannica

This, of course, is the standard general reference encyclopædia in English Now in its 14th edition, it first appeared in 1768-1771 when it consisted only of three volumes The second edition, in 1777-84, was in ten volumes and successive editions grew progressively in size until the 14th edition, which came out in 1929, and consisted of 24 volumes. Entries and articles in the encyclopædia are arranged alphabetically ; articles on specific subjects are written by specialists and are signed with the initials of the writers. An index of the initials at the beginning of the encyclopædia gives the full names and designations of the contributors Features of the *Encyclopædia Britannica* are the bibliographies provided under each article, the excellent illustrations and the atlas and the relative index to the whole encyclopædia, both the latter being contained in volume 24. Although originally a British publication, it is rapidly becoming Americanised and due allowance must be made for this, especially in the political and historical articles In 1946-47 a new issue of the encyclopædia appeared : this was not the 15th edition but the 14th edition revised. The *Encyclopædia Britannica* is now stated to be on a ten-year revision basis and no actual 15th edition is therefore intended for publication. Finally, mention should be made of the *Encyclopædia Britannica Book of the Year.* This, a yearly one-volume supplement, first appeared just before World War II and has become a regular feature since the war. Another feature of the Britannica service is that purchasers receive a number of coupons and are

entitled to write to the publishers for information on any subject, enclosing a coupon each time they write.

Dictionary of National Biography

Familiarly known as the "D N B.," this standard biographical dictionary was first published in 63 volumes from 1885-1901 In 1908-09, however, the 63 volumes were re-issued on thinner paper in 22 volumes and edited by Sir Leslie Stephen and Sir Sidney Lee An examination of the 22 volumes will show that the first 21 cover biographies from A to Z, while volume 22 forms the first supplement. The second and third supplements, covering the lives of celebrities up to 1921, appeared in 1912 and 1927 respectively. Two more supplements have since covered the lives of celebrities up to 1940, while a one-volume edition of the whole work up to 1921 appeared in 1930 as the *Concise Dictionary of National Biography*. The reputation of the D.N.B. as a comprehensive and scholarly reference book on English biography is well-founded. The complete work contains over 31,000 entries Articles, which are of varying length, are written by specialists and are signed. Excellent bibliographies are provided, though these are not now up to date

Cruden's Concordance to the Old and New Testaments

First published in 1737 and re-issued many times since by different publishers. It is useful for its concordance to the Apocrypha, although some editions have omitted this feature Proper names are included in the concordance as well as common words. Undoubtedly Cruden is a vast store-house of information on the Bible, its contents and its allusions.

Times Survey Atlas of the World

This atlas, which appeared from 1920 to 1922, is perhaps best described by its sub-title, which reads: "a comprehensive series of new and authentic maps reduced from the national surveys of the world and the special surveys of travellers and explorers, with a general index of over 200,000 names" The original issue was of 112 double maps in loose-leaf form, with the index in a separate volume, but bound editions were later produced in both England and America Students should become thoroughly acquainted with this atlas and should become practised in the finding of places on the maps from the index

Webster's New International Dictionary of the English Language

An American dictionary, the first edition of which dates from 1828 It is famous for the clarity of its definitions and noteworthy also because its alphabetical list of words contains foreign phrases, abbreviations, proverbs and proper names in the same sequence Its appendices include a list of abbreviations, signs and symbols, forms of address, a pronouncing gazetteer and a pronouncing biographical dictionary. On looking into Webster the discerning student will note that each page is divided into an upper and a lower part, the latter containing minor, obsolete and rare words, alternative spellings and the longer proverbs and foreign phrases.

Readers' Guide to Periodical Literature

An American publication, issued by the H. W. Wilson Co. It indexes in dictionary catalogue form,

that is, under author, subject and title (when necessary), articles appearing in well over 100 periodicals. It differs from the Library Association's *Subject Index to Periodicals* in that it is published fortnightly and is cumulative. By "cumulative" we mean that the fortnightly numbers are eventually gathered together and put into one alphabetical sequence to form an annual volume. This process is continued with the annual volumes which are themselves eventually gathered together into "permanent cumulated volumes" generally covering four or five years. The *Readers' Guide to Periodical Literature* has been issued since 1900 and there are now 16 permanent cumulated volumes covering 1900 to April 1949.

Chambers' Encyclopædia

An old-established family type encyclopædia in fifteen volumes. It first appeared in 1860-68 but several editions have appeared since then, the latest being that of 1950.

The articles are generally shorter than those in the *Encyclopædia Britannica* and are now (1950 edition) signed, although this was not the case in earlier editions. The articles are also less scholarly than those in the *Britannica* though this does not mean that they are less accurate or reliable. The longer articles have brief but up-to-date bibliographies, while the old line illustrations of earlier editions have now been replaced by excellent plates. The fifteenth volume consists of maps, with an excellent index of places, and an index to the entire work.

Whitaker's Cumulative Booklist

This appears quarterly as a classified list of books published during the preceding quarter. An author

and title index is added to the list which is cumulated from the lists of recently published books which appear weekly in *The Bookseller*. The quarterly lists are themselves cumulated as the year goes on to form six-monthly, nine-monthly and finally twelve-monthly volumes, the latter forming the annual volume. Annual volumes have now been published since 1926 and, together with the *Reference Catalogue of Current Literature*, they form an invaluable aid to tracing details of English books published since 1926. Each entry gives author, title, size, pagination, publisher and price of the book, also the month in which the book was published. Abbreviations are widely used, and students should learn the meaning of these to aid them in making their references quickly.

Post Office Telephone Directories

Telephone directories are most useful for supplying addresses of private individuals and firms, and they are often more reliable than local directories as they are revised and kept up to date more frequently Local telephone directories are issued in sections, but a yearly subscription to the G.P.O. will provide libraries with a complete set of British telephone directories as they are published, and it will be found that the sections are bound together into volumes. A separate index of places in booklet form proves invaluable to reference assistants The set is as follows :—

Vol 1 London (in 4 parts, A-D, E-K, L-R, S-Z) Note that there is also a useful classified (trades and professional) directory published for London.

Vol. 2a. Sections 2-12, covering areas Southend ; Colchester ; Norwich , Cambridge ; Bedford ; Oxford , Reading , Guildford ; Tunbridge Wells ; Canterbury ; Brighton

Vol 2b. Sections 13-22, covering areas Portsmouth; Southampton; Bournemouth; Exeter, Plymouth; Taunton; Bristol; Gloucester; South Wales (East); Swansea

Vol. 3. Sections 23-30 covering areas Chester, Shrewsbury, Stoke, Birmingham; Coventry; Nottingham; Leicester; Peterborough.

Vol 4a. Sections 31-38, covering areas Lincoln; Sheffield; York, Middlesbrough; Newcastle; Leeds; Bradford, Hull district.

Vol 4b Sections 39-44, covering areas Manchester, Liverpool; Isle of Man, Preston, Blackburn; Cumberland; West and North Lancashire.

Vol 5 Sections 45-50, covering areas Aberdeen, Dundee, Edinburgh; Glasgow, Scotland West; Northern Ireland.

There is a separate directory for Eire but this can be purchased from the G P.O.

Cumulative Book Index

Another American publication, issued by the H. W. Wilson Co It is a monthly list of books published in the English language, arranged in dictionary catalogue form, and is known to librarians as the C B.I. It cumulates month after month until a six-monthly volume is formed. Pseudonyms are entered under real names (e.g. Shute under Norway) and great trouble is obviously taken to give the full Christian names of authors. Has been appearing since 1898, and since 1930 it has included books published in Great Britain and the Commonwealth as well as those published in the U S A The present state of the cumulated volumes is as follows :—

1928-1932 volume. 1938-1942 volume
1933-1937 volume. 1943-1948 volume.

Note that the C B.I. supplements the *U S Catalog of Books in Print, January 1, 1928*

World List of Scientific Periodicals

The full title of this work is *A World List of Scientific Periodicals published in the years* 1900-1933. It first appeared in 1925-27, when it covered periodicals down to 1921, but the second edition, published in 1934, covered periodicals to 1933. A third edition is in preparation. It lists alphabetically about 25,000 periodicals, each being serially numbered. Under each periodical is given (*a*) full title, (*b*) abbreviated title in italics, and (*c*) indications of the libraries holding copies and their particular holdings. Some 187 libraries are listed, and in using the *World List* the student should particularly note and master the scheme of abbreviations for various libraries. It is to be noted that many periodicals are listed showing that no library apparently has holdings of them.

Murray's New English Dictionary

The full title of this standard dictionary of our language is *The New English Dictionary on historical principles : founded mainly on materials collected by the Philological Society.* It was published, in ten volumes and a supplement, between 1888 and 1933 by the Oxford University Press, and is familiarly known either as *Murray's Dictionary*, the *New English Dictionary* or the *Oxford English Dictionary.* It is often referred to as the N.E.D. or the O E D. A monumental work, its vocabulary exceeds 410,000 words, for each of which it gives pronunciation, alternative spelling, derivation and definition. It is particularly noteworthy for its historical method of definition, as it gives, with quotations, differences of meaning and usage during the past 800 years It claims, in fact, to include all words now in use or known to have been in use since the year 1150

Students should note that "offshoots" of the complete Murray are available in the following forms —

Shorter Oxford English Dictionary. 2 vols. O.U.P 3rd ed 1944

Concise Oxford Dictionary of Current English. O U P 1929

Pocket Oxford Dictionary of Current English. O.U P. 1924

QUESTIONS

1. Select six one-volume quick reference books for use in a branch library Do not include local directories, bus or rail guides
2. Which reference books would you turn to in answering the following questions —
   (*a*) biographical material about Anthony Eden
   (*b*) who wrote the line "They also serve who only stand and wait"?
   (*c*) import and export figures of Uruguay.
   (*d*) names and addresses of newspapers published in Leeds
3. Describe briefly the contents, scope and arrangement of any *three* of the following reference books. Cruden's *Concordance*, *Subject Index to Periodicals*, Grove's *Dictionary of Music and Musicians*, *Who's Who*, Whitaker's *Cumulative Booklist*
4. Mention and describe any well-known atlas suitable for public use in a reference library.
5. What are the points of difference between (*a*) the *Encyclopædia Britannica* and Chambers' *Encyclopædia*? and (*b*) the *Readers' Guide to Periodical Literature* and the *Subject Index to Periodicals*?
6. What is meant by the word "cumulative"? Give examples of one English and one American publication which illustrate your explanation

Chapter IX

EXAMINATION HINTS AND TECHNIQUE

IN view of the fact that students for the Entrance examination and readers of this book will be new to Library Association examinations, I feel that it will not be out of place to conclude with a brief chapter giving practical advice on how best to approach the examination. Much of what I say should be borne in mind throughout the student's progress in librarianship. All of what I shall say has been said before, and it will no doubt be said many times again The fact that such constant repetition is necessary is a sign that few students take any real notice of this advice but, for what it is worth, I am repeating it in the hope that some candidates will take due notice and will translate my hints into practice in the examination room

GENERAL NOTES

Library Association examinations are held twice yearly in various of the cities and larger towns of the United Kingdom. The Entrance examination is held each May and November, and entry forms, duly completed and countersigned by the candidate's Chief Librarian, are due at the Library Association headquarters by March 15th and September 15th each year The examination lasts one day only, two 1½ hour papers being taken in the morning between 10 a.m.

and 1 p m. and two 1½ hour papers being taken in the afternoon between 2 30 and 5 30 p m In the examination room, each candidate is provided with an examination answer book, on the front of which he should write his number, the date and the name of the particular examination he is taking, in this case, Entrance Printed on the front cover of the book is a list of instructions to candidates. These should be read most carefully : among other things, it is pointed out that the question need not be written out, but that the number of the question should appear on the top of each sheet of the answer to it. Candidates should also particularly note that they should begin each answer on a fresh page, that they should not write in the margin, and that handwriting, punctuation, spelling and general presentation of answers will be taken into consideration by the examiners when marking the answers

On receiving the question paper, candidates will note that in each part of the Entrance examination *five* questions are set, of which *three* must be attempted All questions carry equal marks, and they may be attempted in any order.

PRESENTATION OF ANSWERS

Examiners are only human, and when they are confronted with piles of examination scripts to mark they perhaps become slightly less than human The wise candidate will bear this continually in mind and will try to present his answers in an attractive style planned to appeal to the examiner straight away Here, by " style " I do not mean literary style : I shall have a little to say about that later in this chapter I mean instead the actual set-out of written matter

upon the pages of the examination answer book. The candidate should attend the examination armed with his favourite pen, for he will have to write rapidly, and at the same time he should endeavour to write *legibly*. Legibility of handwriting should go without saying, but one regrets to say that there are still very many people about whose handwriting is difficult and sometimes impossible to decipher Those who fall into this category should take special care in the examination, for examiners are not endeared to candidates whose writing is so bad that their answers take twice as long to read as the normal script All candidates get fair treatment : make no mistake about that. But a warning is printed on the cover of every Library Association examination answer book that style, handwriting and punctuation will be taken into consideration when marking, and these factors might very well make all the difference between a pass and a fail in the case of a border-line script.

Another important factor in presentation is the judicious use of paragraphs Everybody is aware of the need for paragraphs but experience has shown that in the examination room many students scribble away laboriously and forget all about paragraphisation. Many who do split their answers into paragraphs do so without any rhyme or reason . the result is not a planned answer but one that is paragraphed just when the candidate happened to think about it Another point : students should not forget to indent the first line of each paragraph.

The only sure way to produce a planned answer, divided into logical paragraphs, is to get into the habit of jotting down a skeleton answer on a piece of rough paper before starting the actual script answer. Most

examination questions, particularly those demanding answers in the form of brief essays, should be approached in this way. Read the question carefully, think of all the possible points you wish to make and jot them down on your rough paper or blotter. Then put them into some sort of sequence under three or four headings. These will later form your paragraphs, and there are few questions that cannot be attempted in four paragraphs, as follows:—*Introduction*, *Thesis*, *Explanation* (with examples if possible), *Conclusion* If the student feels that the use of the skeleton outline is going to be difficult he should practise it before the examination Most students will quickly get into the way of it and will save themselves time and trouble in the examination, as well as producing a neater, more logical and better presented answer.

LENGTH OF ANSWERS

With three questions to be attempted in 1½ hours, this, on the face of it, gives half an hour for each answer Students would, however, be well advised to allow only 25 minutes per answer, for considerable time is wasted in reading and re-reading questions, and in reading through the answers which have been committed to paper. Candidates should work with a watch if possible, and they should get practice beforehand by answering the questions set at previous examinations. These are printed in the *Library Association Year Book* and are an indispensable guide to the standards of the examination The *L.A. Year Book* questions *must* be studied throughout the candidate's preparation, and I suggest that just before the examination he tries to answer them under examination room conditions, that is, without notes and text-books

and working with the clock In the examination, unless answers are particularly asked for in note form, they should be written in essay form As a general guide, essay answers should be *about* 300 words long, that is, just about a page or slightly over a page of the examination book in the normal person's handwriting. If the question gives definite guidance on the length of the answer required (e g *Write notes, about 150 words each, on two of the following* . . .) entrants should make sure that their answers comply with the stated length. Certainly they should not err by more than 30 words either above or below the length wanted.

LITERARY STYLE

Throughout the examinations a clear and concise literary style is most important. Whether the candidate is discussing the pros and cons of fines in public libraries or the merits and demerits of the dictionary catalogue, all answers should be presented to the examiners in good, clear, succinct English prose. Style is particularly important in the essay which, as the syllabus says, is set to discover the ability of entrants to express themselves clearly and grammatically Many students are approaching the essay part of the examination with some trepidation, chiefly because they do not know what subjects are likely to be set They need have no fears on this count. The essay is not set to test knowledge but merely to test the entrant's ability to write reasonably good English. Obviously, some background of general knowledge will be called for, but the student who reads his daily papers and who has the normal interests in life is sure to find some subject among the set alterna-

tives on which he can write an essay Note that 500 words is the required length: certainly not less than 450 or more than 550 will be acceptable to the examiners.

There is really little I can say about actual literary style that has not been said infinitely better by proved experts I would refer my readers, among other books, to Guy Pocock's *Pen and ink*, which gives much valuable advice on the writing of good English to the person who is prepared to read it thoughtfully

To the habitual bad speller and poor punctuator the only advice I can give is that he should pay more attention to the printed words and sentences in the books and newspapers he reads in his daily life But much bad spelling and poor punctuation is sheer carelessness one answer is to acquire the habit of reading through what has been written before going on with the next question. If this were done by all candidates many mistakes of spelling, punctuation, omitted words and bad sentence construction would be averted

CONCLUSION

I have tried, in this little book, to cover the ground as completely as possible, but I must repeat what I have said earlier that students must resort to the other recommended reading and not stop short with this book There is quite a lot of ground to cover for the Entrance examination, although students may be sure that answers of an elementary level only are expected, and that the examination remains a test of whether, after a year or so's experience in a library, the assistant is suitable for a career in librarianship. It remains,

largely, a test of common sense and of observation of everyday practice. But some work is quite definitely needed in addition, plus the usual amount of luck. To all my readers who are prepared to make the effort of working towards success in the Entrance examination I say—" the best of luck."

INDEX